

मुद्रक और प्रकाशक
जीवनजी दाह्याभाजी देसाजी
नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद-१४

सर्वाधिकार नवजीवन प्रकाशन संस्थाके अधीन

संग्राहक के दो शब्द

गंगा के बिना रे आबर जेने बोझी बेचल आचमनमे मरने भान ले, बेगी मेरी स्थिति है। पूज्य माधजीन बहुत अधिक और शराही सुन्दर बना है तथा आज भी समय-समय पर बहने रहते हैं। परन्तु मैं तो भुगमे में बहुत छोटा हिस्सा ले गया हूँ और ले सका हूँ। और जो कुछ ले गया हूँ, वह भी बिलकुल अक्षुण्ण है। फिर भी भुगमे तथा पूज्य रमणीकालभाभी मांझीके संग्रहालयमें भुगमे 'सुन्दर' के रूपमें पूज्य बाबाजीके प्राणविक्रम दादाके साथ दहा दहन करवा हूँ। जिसमें यदि भुगमे गंगाजलका अधिक पान करलेकी — पूज्य माधजी के द्वारा परिचयमें आकर भुगमे कुछ जानलेकी — किसी दासके द्वारा किसी तो भुगमे ही भुगमे गताप होगा।

बबजी, ११-६-'५१

मोहनचन्द्र माधवाचार्य

प्रस्तावना

ये सवाद मेरे भतीजे नीलकण्ठ मसहवालाकी १९२१ से १९२५ के बीच लिखी गयी डायरीमें लिखे गये हैं। अंगकी आयु भी उस समय लगभग २१ से २५ वर्षके बीच ही थी। अंगी अस्सेमें मेरे कारण वह पूज्य नायजीके परिचयमें आया। उस परिचयको अंगने थोड़ासे बढ़ाया और पूज्य नायजीने ममता और प्रेमसे अंगका पोषण किया।

मारे तमणोंकी तरह नीलकण्ठका भी वह समय विविध आदशोंके बीच पसन्दगी करनेका, सामाजिक स्थापित करनेका तथा कुछ 'अद्भुत' कार्य कर डालनेकी अभिलाषामें अत्यन्त होनेवाले मानसिक मघपोंका था। अंग आपमें कविता न करे अंगे तरण चिरे ही होते हैं। नीलकण्ठने काकागाहके घरणोंमें बैठकर साहित्य, कविता, कथा, सौन्दर्य आदिकी रचना अच्छा विनास किया था। अङ्गीके द्वारा अंगने बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस जैसे भक्त तथा ज्ञानेश्वर, तुकाराम जैसे प्राचीन और नारायण दामन मिश्र जैसे आधुनिक महाराष्ट्रीय सन्त कवियोंके साहित्यका भी रसगत किया था। अंगमें राष्ट्रीयताके सस्कार पढ़ें, अंगमें कोअी आश्चर्य है। ही कैसे सकता है? और व्यापारिक वृत्ति तो अंगके धूनमें ही थी। अंगके माय बढनेवाली युवावस्थाके अनुरूप सगाररस बढानेका काम बुरदरन करनी ही थी। अंग प्रसार ललित कलाके सस्कार, अंगमें बगुटे निवृत्ति, वैराग्य, सर्वमिष्या, आत्म-साक्षात्कार आदिने सस्कार तथा अंग दोनोंमें अंग प्रसारके सस्कार जोर करते थे। मन पर पडे हूअे विविध सम्कारोंका यह मिश्रण कैसी परेसानी सदी करना है, अस्तदा परिवय अंग लोगोको बरानेकी आवश्यकता नहीं जो अंग आयुको पार कर चुके हैं।

प्रस्तावना

मेरे सबाद मेरे भतीजे नीलकण्ठ मगरवालाकी १९२१ से १९२५ के बीच गिरती गयी डायरीमे लिखे गये हैं। अमुकी आयु भी अुस समय लगभग २१ से २५ वर्षके बीच ही थी। अुमी अरमेमें मेरे कारण वह पूज्य नाथजीके परिचयमे आया। अुस परिचयको अुमने श्रद्धासे बढ़ाया और पूज्य नाथजीने ममता और प्रेमसे अुमका पोषण किया।

मारे तरणोंकी तरह नीलकण्ठता भी वह समय विविध आदर्शोंके बीच पतनदगी करनेका, गामजस्य स्थापित करनेका तथा कुछ 'अद्भुत' कार्य कर डालनेकी अभिलाषामे अुत्पन्न होनेवाले मानसिक संघर्षोंका था। अिग आयुमें कविता न करे अंगे तरण खिले ही होते हैं। नीलकण्ठने पात्रागाहके चरणोंमें बैठकर साहित्य, कविता, कला, सौन्दर्य आदिकी रचिना अच्छा बिनास किया था। अुन्हींके द्वारा अुसने बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस जैसे गतों तथा ज्ञानेश्वर, तुकाराम जैसे प्राचीन और नारायण धामन सिंग जैसे आधुनिक महाराष्ट्रीय गण कवियोंके साहित्यका भी रंगान किया था। अुमने राष्ट्रीयताके मस्कार पहें, अिगमें कोअी आश्चर्य ही ही बंगे करना है? और व्यापारिक वृत्ति तो अुसके खूनमें ही थी। अिगके साथ बढ़नेवाली युवावस्थाके अनुरूप मगाररम बढ़ानेका काम अुदरन करना ही थी। अिग प्रकार मलिन मग्नके मस्कार, अुनने अुनने निवृत्ति, वैराग्य, सर्वमिथ्या, आत्म-साक्षात्कार आदिके मस्कार तथा अिन दोनोंमे अिग प्रकारके मस्कार जोर करने थे। मन पर पड़े हूअें विविध मस्कारोंका यह मिश्रण बंगी परेशानी खड़ी करना है, अिसका परिचय अुन लोगोंको बनानेकी आवश्यकता नहीं जो अुम जाम्बो पार कर चुके हैं।

अंसे ही समय यदि तरुणोंको कोओ विवेकयुक्त मार्गदर्श मिल जाय तो अुनका मार्ग सरल हो जाता है और अुनके जीवनमें स्थिरता आ जाती है। नीलकण्ठके सद्भाग्यसे अंसे समय अुने नायत्री मिल गये।

नीलकण्ठकी अच्छे साहित्य और कलाकी रुचि अभी तक बंसी ही बनी हुआ है। परंतु स्वयं साहित्य रचने अथवा कलाकार बननेकी रुचि कायम नहीं रही। अुस आयुमें अुसने अंक-द्वी पुस्तकोंके अनुवाद किये थे, जो प्रकाशित हुअे हैं। थोड़े समय तक दर्शन देकर लुप्त हो गयी अुस वृत्तिके प्रभावसे नीलकण्ठने अुस समय पूज्य नाथजीके साथ हुअे अपने परिचय और संवादोंके कुछ गोट भी ले रखे थे। मैं और श्री रमणीक-लाल मोदी पूज्य नाथजीके साहित्यका संपादन करनेका विचार कर रहे थे, अुस समय नीलकण्ठने वह सामग्री मेरे पास भेज दी। पढ़ने पर वह हमें अुपयोगी मालूम हुआ। यह छोटीसी पुस्तिका अुस डायरीके ही पृष्ठोंका परिणाम है। अिसमें से पूज्य नाथजीसे संबंध रखनेवाले कुछ भावनापूर्ण अुद्गार और कुछ बहुत व्यक्तिगत प्रसंग अुन्हीने निकलवा दिये हैं। अुसके सिवा, सारी डायरी लगभग मूलरूपमें ही दी गयी है। मेरी श्रद्धा है कि पाठकोंको भी यह पसन्द आयेंगी और अुपयोगी मालूम होगी।

वर्षा, ८-६-५१

किशोरलाल घ० मशहवाला

अनुक्रमणिका

गयातकों से शरद	३
प्रगतायना	५
१. गंगा और वेप	३
२. गंगा और मगधा	५
३. शान्ति और कामलता	१०
४. पमरगणता और प्रगतायना	१२
५. रिच्छाभिर्दोता धर्म	१४
६. गंगा और जीवनरौ इस्तेरी गती दृष्टि	१६
७. शान्ति और मनुष्यत्व	२५
८. प्रत्यक्ष गंगा ही धर्म है	२८
९. जीवन-निर्वाह और धर्म	३१
१०. शान्ति नाम पर अपव्यय	३६
११. शान्ति नाम पर दम्भ	३८
१२. जीवन-गिद्धि	४५
१३. तीर्थोंके बारेमें विचार	४७
१४. निष्ठा और धर्म	५१
१५. चित्तकी समता	५३
१६. चित्तकी समता साधनेका नुपाय	५५
१७. धर्मा और शान्ति	५७
१८. सादगी और धर्मोपमर्श विचार	५८

सुसंवाद

केश और चेप

एक दिन पूज्य नायजी बाल कटवा रहे थे । भुम समय मेरे सिरके बहुत बड़े हुअे बालो * को देख कर मुन्होने मुझसे पूछा : “क्यो, तुम भी अपने बाल कटवाओगे न ? कितनी बड़ी जटा बढा ली है ? ” अुनकी आवाजने ही मुझे बशमे कर लिया और मैं बोला “ आप कहेंगे वैसा ही करूंगा । ” अुन्होने मुझसे पूछा . “ तुमने कित अुद्देश्यमे अितने बड़े बाल बढा लिये हैं ? ” मैंने कहा “ साधु-मन्न और साधक बढ़ाते हैं, अिमलिअे मैंने भी बढ़ा लिये हैं । मुझे वे भूषण मालूम होने हैं । मैं कभी बगैरा नहीं करता, क्योकि मैंने सुन्दर दीग्वनेके लिअे शीबमे ये बाल नहीं बढ़ाये हैं । फिर भी आप कहते हैं तो मैं कटवा लेना हूँ, क्योकि आपके अिम प्रश्नमे मुझे कुछ विशेष अर्थ मालूम होता है । ”

* मैंने हिमालयकी और वहाके साधु-पनोंकी बढवनी बाने गुरी थी । अुन तममे मुझे लगता था कि हिमालयमें गये दिना मुक्ति या शांति नहीं मिल सक्ती । मेरा बाहरी रेश भी बैसा ही था । लम्बे बढाये हुअे बाल, भगवी या मणंद कपनी तथा टोरीका ग्याण ! अितना बरखे मुझे लगता था कि मैं मुक्ति प्राप्ति कर लूँगा ?

वे बोले : “तुम क्या, अंसे भ्रममें तो बड़े बड़े लोग भी फंस जाते हैं ! परन्तु जटा जिस मार्गका साधन नहीं है । यह दूसरी बात है कि साधक जब अकान्तमें रहता है तब कोभी चारा न होनेसे अमुकें बाल बढ जाते हैं । वैसे यह सब व्यर्थकी मान्यता है । जिसके बजाय तो बालोंमें कंधी करना, अन्हें ठीकमे सवारना अधिक अच्छा है । अमुमें रजोगुण होते हुए भी व्यवस्थितता तो है ! परन्तु यह तो निरा तमोगुण, जंगलीपन है । रजोगुणी शोकका आनन्द भी हमें मनुष्यत्वके भुत्कर्षकी ओर ले जानेमें अपयोगी सिद्ध नहीं होता । सच्चा मनुष्यत्व — मनुष्यका सच्चा विकास तो अमुमें है ही नहीं । सच्चा विकास तो सात्त्विक वृत्तिसे कार्य करनेकी शक्ति प्राप्त करनेमें ही है

मैंने बाल कटवा डाले तब वे बोले : “देखो, अब कैसा अच्छा लगता है ! है कोभी पीड़ा ? अब समझमें आ गया न कि विलास अथवा तमोगुणमे विकास नहीं है ? सद्गुण ही मनुष्यकी शोभा बढ़ाते हैं, जटा या बाल नहीं ।”

संसार और संन्यास

मेरा धीर पूज्य नाथजीका परिचय अब कुछ बढ़ गया था। मैंने अपने मनका मन्थन और भ्रम अन्तर्क रामने रखा। मैंने कहा "नाथजी, मेरा मन भारी भ्रममें पड़ गया है। मुझे लगता है कि सब कुछ छोड़ कर वही भाग जाओ। यदि मैं जगत्के जजालमें फँस गया तो फिर मेरे लिये अन्तर्गतकी आशा रखना व्यर्थ होगा। और मुक्ति मिलनेकी आशा रखना तो निरा भ्रम ही होगा।"

अन्तर्गतने उत्तर दिया "घर छोड़ कर कहीं भाग जानेसे तुम्हारी जरा भी अन्तर्गत नहीं होगी। अन्तर्गत साधनका क्षेत्र तो घर ही है। यदि तुम ऐसा मानते हो कि संसारके साध मन्थन न रखनेवाले साधुओं या वैरागियोंने अन्तर्गत साध ली है, तो तुम्हारी यह मान्यता गलत है। मेरा तो यह दृढ़ मत है कि कृत्रिम ढंगसे कोई अन्तर्गतके मार्ग पर चढ़ ही नहीं सकता। जिस मनुष्यने शुभ गुणोंका उत्कर्ष करके अन्तर्गत बढ़ाया है, वही स्वाभाविक रूपमें अन्तर्गत साध सकता है। जब तक तुममें शुभ गुणोंका विकास नहीं होता, तब तक आग्रहपूर्वक समाज छोड़ देनेसे तुम्हें कुछ मिलनेवाला नहीं है। मुझे तो लगता है कि ऐसा करनेसे या तो तुम प्रमादी बन जाओगे अथवा लोगोंमें

थोड़ी बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर लगे। परन्तु उससे तुम्हारा भुत्कर्ष या भुन्नति नहीं हो सकती।”

मैंने कहा “परन्तु शास्त्र तो यह कहते हैं कि मनुष्यको निर्गुण अवस्था प्राप्त करनी चाहिये, जब कि आप गुणविकास पर जोर देकर उसका आग्रह रखते हैं, दोनोंमें से कौनसी बात ठीक है, यह मैं समझ नहीं पाता।”

नाथजी बोले : “निर्गुण अवस्था प्राप्त करनेकी बात शास्त्रोंमें कही गयी है, परन्तु इस विषयमें शास्त्रोंका विचार समझनेमें शायद हमारी भूल होती है। मेरा कहना यह है कि सद्गुणोंका पूर्ण विकास करके, उनका अहंकार न हो अंसी स्थिति प्राप्त करनेकी दिशामें मनुष्यका प्रयत्न होना चाहिये। बालक जब पहले-पहल पढ़ना सीखता है तब उसे इसका अभिमान होता है। परन्तु जब उसे अच्छी तरह पढ़ना आ जाता है, और पढ़नेकी क्रिया उसके लिये विलकुल स्वाभाविक हो जाती है, तब उसे इस विषयमें पहले जैसा अभिमान नहीं मालूम होता। अंसी प्रकार सद्गुणोंका पूर्ण विकास करनेके बाद जब वे हमारा स्वभाव बन जाते हैं, तब उनके विषयमें हमें अभिमान नहीं लगता। यही सच्ची गुणातीत अवस्था है। सद्गुणोंका पूर्ण विकास किये बिना मनुष्यका निर्गुण बननेका प्रयत्न क्या बड़ी भूल नहीं है? तुम इस पर विचार करो।”

“अच्छा। वे कौनसे गुण हैं, जिनका मनुष्यको पूर्ण विकास करना चाहिये?”

" दया, क्षमा, मैत्री, अद्वारता आदि शुभ गुण । "

" तब तो भगवान बुद्धकी कही हुयी पारमिताये * सिद्ध करके आगे बढ़ना चाहिये ? "

" ठीक है । "

" अिन दस पारमिताओंको सिद्ध करनेके बाद भी मत्त्व, रज और तम अिन तीन गुणोंका कुछ अंशमें तो अस्मिरत्व रहता ही है न ? यह अस्मिरत्व — ये तीन गुण क्या मनुष्यको अस्थिर नहीं बना सकते ? "

" जब तक यह शरीर है, तब तक कम-अधिक मात्रामे ये तीन गुण रहने ही वाले हैं । अिम विषयमें अितना ही कहा जा सकता है कि मनुष्यकी शारी त्रियाओं अुम समय मत्त्वगुणके आधार पर चलनी रहेगी । मत्त्वगुणके साथ वह अितना समरग हो गया होगा कि वह गुण अुमका स्वभाव ही बन जायगा । शाराय यह कि अंसा मनुष्य किसी भी गुणमें आसक्त नहीं होगा, किसी भी गुणके बन्धनमें नहीं रहेगा । "

" यह स्थिति सिद्ध करनेके लिये मगारमें रहना आवश्यक है, यह मैं समझ गया । और अंसा समझकर जो संसारमें रहे अुम साथक ही समझना चाहिये । बेदान अुम अपने अुपभोगके लिये किसीमें सेवा नहीं लेनी चाहिये । अिमके विपरीत, अुम सबकी सेवामें मग्न रहना चाहिये । "

* दान, शील, नैस्वर्ग्य, श्रमा, वीर्य, धानि, मय, अविश्रान, मैत्री और अुपेक्षा — अिन्हें बौद्धधर्ममें पारमिताये कहा गया है । गीताकी भाषामें कहा जाय तो १६ वें अध्यायमें ब्रह्मात्री शरीरें ही मग्नतिथ ।

मेवा करनेमें ही अंगे आनन्द अनुभव होना चाहिये, सेवा करानेमें नहीं। परन्तु गंगारमें रह कर बार-बार आनन्द, अलगव आदिमें भाग लेना गटना है। अंगे समय अंगे क्या करना चाहिये? क्या अंगे जिन गव बातोंमें दूर रहना चाहिये? "

"क्या तुम यह समझते हो कि आनन्दमात्र दोष-रूप अथवा पापरूप है? अंसा हो तो सुम्हारी भूल है। आनन्द और अलगवम भाग लेनेसे हमारी मनोवृत्ति मलिन और हीन बनती हो गी हमें अंगे भाग नहीं लेना चाहिये। आनन्दमें भी सात्त्विक, राजन, तामसके भेद किये जा सकते हैं। जो आनन्द हमने सात्त्विक साधनों और सात्त्विक मार्गसे प्राप्त किया हो और जिस आनन्दगे हमारे भीतर किसी प्रकारकी हीन वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, बल्कि हमारा मन अधिकाधिक प्रसन्न बनता है और हममें सत्कर्मकी अिच्छा तथा उत्साह उत्पन्न होता है, असे सात्त्विक आनन्द कहनेमें कोअी हर्ज नहीं। परन्तु जो आनन्द हीन अुपायोंसे प्राप्त किया गया है और जिससे मनुष्यका मन अुत्तरोत्तर हीन दशाको पहुँच कर बुरे और अवनति-कारक कर्मोंकी तरफ मुडता है, वह आनन्द राजस-तामस प्रकारका है। हमें शुद्ध आनन्दकी अिच्छा करनी चाहिये। वह कैसे प्राप्त हो सकता है, अिसका विचार करना चाहिये। आनन्दका परिणाम शरीर, मन और बुद्धि पर अनेक प्रकारसे अिष्ट होना चाहिये। अनिष्ट तो कभी होना ही नहीं चाहिये। अुसमें शरीरकी नीरोगता बढ़नी चाहिये।

वृद्धिके सूक्ष्म, प्रगल्भ और व्यापक बननेमें अस्से सहायता मिलनी चाहिये और मनकी पवित्रता बढ़नी चाहिये । अस् प्रकारके आनन्द हमें खोज निकालने चाहिये । प्रत्येक आनन्दमें मे हमें सभी गुण प्राप्त होंगे, अस्ी बात नहीं है । परन्तु आनन्दके साथ ही कुछ सात्त्विक लाभ प्राप्त करनेकी हमारी दृष्टि होनी चाहिये । मानव जीवनमें आनन्दका होना बहुत जरूरी है । जीवनमें से आनन्दको निकाल दे तो यह मूया, नीरस और अरुचिकर बन जायगा । तब प्रश्न अितना ही रह जाता है कि हम सात्त्विक आनन्द कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? वैयक्तिक आनन्दकी तरह ही हमारे लिये सामुदायिक आनन्दकी भी आवश्यकता है । और सामुदायिक आनन्दके लिये आनन्दके अुत्सवों जैसे आयोजन होने चाहिये । निराशा, थकावट, बेचैनी, अुदासीनता आदिको दूर करके हमारे जीवनमें आशा और अुत्साहका सचार करके नया चैतन्य, नया जीवन पूरनेके लिये असे आनन्दकी बड़ी आवश्यकता है । अुत्सवोंसे हममें प्रेम, मैत्री, अुदारता, सामुदायिक सद्गुणों और अुक्थकी वृद्धि होनी है । हमें अस् बात पर ध्यान देना चाहिये कि हम किम तरहमें आनन्द प्राप्त करते हैं और अुस आनन्दका परिणाम हम पर और समाज पर क्या होता है । आनन्दकी प्राप्तिमें हमारा अपना या दूसरे किसीका अहित नहीं होना चाहिये । हमारे आनन्दसे दूसरोंको भी आनन्दकी प्राप्ति होनी चाहिये और सबके आनन्दका पर्यवसान सत्कर्ममें होना चाहिये । हमारा यह आग्रह है कि

सेवा करनेमें ही असे आनन्द अनुभव होना चाहिये, सेवा करानेमें नहीं। परन्तु ससारमें रह कर बार-बार आनन्द, अुत्सव आदिमें भाग लेना पड़ता है। ऐसे समय अुन क्या करना चाहिये? क्या अुमें जिन सब बातोंसे दूर रहना चाहिये? "

"क्या तुम यह समझते हो कि आनन्दमात्र दो रूप अथवा पापरूप है? ऐसा हो तो तुम्हारी भूल है। आनन्द और अुत्सवमें भाग लेनेसे हमारी मनोवृत्ति मलिन, और हीन बनती हो तो हमें अुनमें भाग नहीं लेना चाहिये। आनन्दमें भी सात्त्विक, राजस, तामसके भेद किये जा सकते हैं। जो आनन्द हमने सात्त्विक साधनों और सात्त्विक मार्गसे प्राप्त किया हो और जिस आनन्दसे हमारे भीतर किसी प्रकारकी हीन वृत्ति अुत्पन्न नहीं होती, बल्कि हमारा मन अधिकाधिक प्रसन्न बनता है और हममें सत्कर्मकी अिच्छा तथा अुत्साह अुत्पन्न होता है, अुसे सात्त्विक आनन्द कहनेमें कोई हर्ज नहीं। परन्तु जो आनन्द हीन अुपायोंसे प्राप्त किया गया है और जिससे मनुष्यका मन अुत्तरोत्तर हीन दशाको पहुच कर बुरे और अवनति कारक कर्मोंकी तरफ मुड़ता है, वह आनन्द राजस-तामस प्रकारका है। हमें शुद्ध आनन्दकी अिच्छा करनी चाहिये वह कैसे प्राप्त हो सकता है, अिसका विचार करना चाहिये। आनन्दका परिणाम शरीर, मन और बुद्धि पर अनेक प्रकारसे अिष्ट होना चाहिये। अनिष्ट तो कभी होना नहीं चाहिये। अुसके शरीरकी नीरोगता बढ़नी चाहिये।

वृद्धि के सूक्ष्म, प्रगल्भ और व्यापक बनने में अस्से सहायता मिलनी चाहिये और मनकी पवित्रता बढनी चाहिये । अस् प्रकारके आनन्द हमें खोज निकालने चाहिये । प्रत्येक आनन्दमें से हमें मभी गुण प्राप्त होंगे, अस्सी बात नही है । परन्तु आनन्दके साथ ही कुछ सात्त्विक लाभ प्राप्त करनेकी हमारी दृष्टि होनी चाहिये । मानव जीवनमें आनन्दफा होना बहुत जरूरी है । जीवनमें से आनन्दको निकाल दे तो वह सूखा, नीरस और अरुचिकर बन जायगा । तब प्रश्न अतना ही रह जाता है कि हम सात्त्विक आनन्द कंसे प्राप्त कर सकते हैं ? वैयक्तिक आनन्दकी तरह ही हमारे लिये सामुदायिक आनन्दकी भी आवश्यकता है । और सामुदायिक आनन्दके लिये आनन्दके अस्सर्वां जैसे आयोजन होने चाहिये । निराशा, थकावट, घेचैनी, अुदामीनता आदिको दूर करके हमारे जीवनमें आशा और अुत्साहका सचार करके नया चैतन्य, नया जीवन पुरानेके लिये असे आनन्दकी बडी आवश्यकता है । अुत्सर्वासे हममें प्रेम, मैत्री, अुदारता, सामुदायिक सद्गुणों और अंक्ककी वृद्धि होती है । हमें अस् बात पर ध्यान देना चाहिये कि हम किम तरहसे आनन्द प्राप्त करते हैं और अस् आनन्दका परिणाम हम पर और समाज पर क्या होता है । आनन्दकी प्राप्तिमें हमारा अपना या दूसरे किसीका अहित नही होना चाहिये । हमारे आनन्दसे दूसरोंको भी आनन्दकी प्राप्ति होनी चाहिये और सबके आनन्दका पर्यवमान सत्कर्ममें होना चाहिये । हमारा यह आग्रह है कि

सृष्टिकी प्रत्येक वस्तुका सदुपयोग होना चाहिये । यही आग्रह हमारा अपने आनन्दके विषयमें भी होना चाहिये । हमारे मनमें ऐसी दृढ अिच्छा तो होनी ही चाहिये । जिस अुद्देश्यकी पूर्ति हमारे विवेक और योजना-शक्ति पर निर्भर करती है । किसी भी आनन्दका निर्माण हमारे हृदयमें से ही होता है; बाह्य वस्तु, प्रसंग और परिस्थितिया तो निमित्तमात्र हैं । फिर भी ये निमित्त शुद्ध होने चाहिये । आनन्दका निर्माण हृदयमें से होते हुअे भी अुसका निमित्त बननेवाली शुद्ध-अशुद्ध वस्तु, प्रसंग और परिस्थितियोंके शुद्ध-अशुद्ध परिणाम हमारे चित्त पर हुअे बिना नहीं रहते । अतः जिस विषयमें मनुष्यको बहुत सावधान और विवेकी रहना चाहिये ।”

३

ज्ञानी और कोमलता

आश्रममें अेक बालिका बीमारीके कारण अतिशय पीड़ा भोग रही थी । जब जब हमे अुसके समाचार प्राप्त होते, तब तब हमारी ही तरह पूज्य नाथजीको भी बड़ा दुःख होता था । जिस पर मैंने अेक बार अुनसे पूछा : “नाथजी, अुम बालिकाके दुःखकी बात सुनकर हमे दुःख हो यह तो बिल्कुल स्वाभाविक है । परन्तु आपको दुःख ”
“चाहिये ? आप तो सुख-दुःखसे परे है ?”

ले : “क्या मैं तुम्हें पत्थर जैसा जड़ अथवा हुआ लगता हूं ? विचारशील मनुष्यके लिये

अंता समझना ठीक नहीं। यदि तुम मानते हो — तुम्हारी श्रद्धा हो — कि मैं विचारशील हूँ, तो मैं निष्ठुर बनें हो सकता हूँ ? यह मान्यता भी हमारे ज़ोनोंमें चली आती अके भूल है। जब सामान्य मनुष्यका मन भी कोमल होता है, तब फिर जिनने विचार करके अपने मनको अधिक अुदात्त बनाया है, अुमके मनकी कोमलता नष्ट हो जाय और वह निष्ठुर बन जाय अिमका भला क्या कारण हो सकता है ? अतः मनुष्य ज्ञानी हो या न हो, अुमके मनमें कोमलता और दुःखियोंके प्रति महानुभूति होनी ही चाहिये। दुःखी मनुष्य दुःखसे मुक्त हो, अिमके लिये विचारशील मनुष्यको चाहिये कि वह प्रतिक्षण सकल्प, अुपाय और चिन्ता करता रहे और दुःखीको बार बार धैर्य वधाता रहे। साधारण मनुष्यकी अपेक्षा अुसकी विशेषता यही होगी कि वह दुःखसे घबरायेगा नहीं, कष्टोंमें अद्विग्न नहीं होगा और कोभी अनुचित कार्य नहीं करेगा। दुःखके अवसर पर साधारण मनुष्य घबरा जाता है और दुःख दूर करनेका कोभी अुपाय नहीं करता, जब कि विचारशील मनुष्य अुसका दुःख दूर करनेका सतत प्रयत्न करता है। प्रयत्नमें असफलता मिलने पर साधारण मनुष्य दुःखी होते हैं। परन्तु शान्त, धीर और अुदात्त पुरुष ऐसे समय अुसमें विश्वका नियम, अीश्वरकी अिच्छा समझकर व्याकुल नहीं होता, और विचारपूर्वक सुख-दुःखसे अलिप्त रहता है। यही अुमकी विशेषता है।”

कर्मपरायणता और प्रसन्नता

मेरी अभावधानता तथा कर्म करने और कर्ममें जगनेकी अरुचिको देख पूज्य नाथजी यह सोचने लगे थे कि मुझे कर्ममें प्रवृत्त करना चाहिये, वरना मेरे कर्तृत्वका नाश हो जायगा । आखिर अेक दिन शामको अुन्होंने मुझसे कहा : “तुममें रजोगुण (कर्मकी प्रेरणा देनेवाला गुण) बहुत कम है । परन्तु हमें कर्म करनेके लिये अितना तत्पर रहना चाहिये कि कोअी कर्म सामने आया कि अुसे कर डाला । न हो वहा भी कार्य खोज निकालना चाहिये और निर्दोषतासे तथा व्यवस्थित रूपमें अुसे कर डालना चाहिये । कोअी कार्य न हो — न सूझे तो घरकी सफाअी करने या चीजे व्यवस्थित ढंगसे जमानेमें समय लगाना चाहिये । परन्तु योग्य कर्मके बिना कभी रहना नही चाहिये, क्योंकि कर्म ही शरीर और मनका व्यायाम है ।”

मैंने कहा : “कर्म करनेसे मैं अिनकार नही करता । लेकिन क्या कार्य किया जाय, यह मुझे आसानीसे मूझता नही ।”

अुन्होंने अुत्तर दिया : “हममें कर्म करनेकी वृत्ति ही बहुत कम हो गअी है । वरना हम कहीसे भी काम खोज लें, अुसके लिये प्रयत्न करे, परन्तु निठल्ले और — अेक क्षण भी नही बैठे ।”

अगलमें मैं चिन्ताग्रस्त और व्याकुल रहता था, जिसमें नाथजीको दुःख होता था। उन्होंने मुझे शान्त किया और कहा “तुम्हारे सम्बन्धमें आनेके बाद तुम्हें कर्ममें प्रवृत्त करना मैं अपना धर्म मानता हूँ। तुम परेशान या व्याकुल मत होओ। जब तक कोई स्थायी कार्य करनेके लिये नहीं मिलता, तब तक तुम अपना शरीर सुधारनेका प्रयत्न करो। छोटा बड़ा जो भी काम मिल जाय उसे करने लगे और मनको सदा प्रसन्न रखो। ‘मना करा रे प्रसन्न ! सर्व मिट्टीके कारण’ . योग्य कार्यमें लगे रह कर मनको प्रसन्न रखना सीखा जा सके तो जीवनकी सारी मिट्टियाँ तुम प्राप्त कर सकते हो।”

नाथजीके इस कथनसे मैं तुरन्त सावधान बन कर शान्त हो गया। और बोला, “नाथजी, आप जरा भी दुःखी न हो, न मेरे लिये कोई चिन्ता करे। मैं आपकी आज्ञानुसार आचरण करनेका अवश्य प्रयत्न करूँगा और सदा प्रसन्न रहूँगा।” मैंने उनके आशीर्वाद लिये और सोनेकी तैयारी करने लगा।

विद्यार्थियोंका धर्म

एक दिन शामको मेरी प्रेरणासे आश्रमके कुछ विद्यार्थी मेरे माथ आकर नाथजीके आसपास बैठ गये ।
 उन्होंने सबसे पूछा : " क्यों, आनन्दमें हो न ? "

एक विद्यार्थीने कहा : " जी हां । दो शब्द उपदेशके आपसे सुननेकी हमारी इच्छा है । "

नाथजी : " तुम लोग खूब खेलो-कूदो, आनन्दमें रहो और पढ़ो । इस समय तुम्हारा यही धर्म है । दूसरी गंभीर बातोंमें पढ़नेकी तुम्हें इस अум्रमें जरूरत नहीं है । और कुछ पूछना है ? "

विद्यार्थी " जी हा । सब लोग कहते हैं कि आप आत्मदर्शन कराते हैं । आत्मदर्शनका क्या अर्थ है ? "

नाथजी : " यह तो तुमने सबसे गंभीर बात निकाली । इसके लिये पहले तुम्हें योग्यता प्राप्त करनी होगी । यह योग्यता स्वधर्मका आचरण करनेसे ही प्राप्त होती है । इस समय तो तुम्हारा धर्म पढ़ना, खेलना और आनन्दमें रहना ही है । तुमसे जो बड़े हैं, उनका धर्म इससे भिन्न है । योग्य समय पर तुम्हें आत्माका भान होगा । इस समय तो तुम अितना ही ध्यानमें रखो कि जो शक्ति तुम्हारे गहरे अन्तरमें से तुम्हें सत्कर्म करनेको कहती है, आलस्य छोड़नेको कहती है, वही शक्ति सब कुछ है । "

अस विद्यार्थीने नाथजीको प्रणाम किया और हंस कर मानो सन्तोष प्रकट करता हुआ अन्य विद्यार्थियोंके साथ खेलने चला गया ।

विद्यार्थियोंके जानेके बाद नाथजी मुझसे कहने लगे “अैसे विचारों अथवा अैसे प्रश्नोंकी परम्परा क्या बडे लोग ही कोमल चित्तमें नहीं भरते ? वरना अनेक प्रकारके विनोदोंमें मग्न रहनेवाले, निर्दोष खेल खेलनेवाले विद्यार्थियोंको ये प्रश्न कैसे सूझ सकते हैं ? आरमविचार हृदयके भीतरमे स्फुरित होना चाहिये । यह प्रश्न हमरोके मुझानेका नहीं है । अपने हृदयमे स्फुरित हो, तब असका समाधान भी होगा । जितनी जिज्ञासा, अतनी ही असकी पूर्ति । साधारण मनुष्य-समाजके लिअे तो अितना समझ लेना काफी है . ‘मन, वाणी और कर्ममे शुद्ध रहो, नीरोग रहो, मदाचारी रहो । अिमीमें मनुष्यका पूर्ण विकास है । अिममे शान्तिका या जो कुछ भी होगा असका अनुभव होगा ।’ सृष्टिके और स्वयं अपने मूल तत्त्वकी शोध — यह ज्ञानका महान विषय है । परन्तु जिन्हें असकी जिज्ञासा है, अन्हीके लिअे वह है, गवके लिअे नहीं । ”

संसार और जीवनको देखनेकी सही दृष्टि

अंक शामको पूज्य नाथजी और मैं बैठे थे। अनेक विषयों पर बातें हुई। वे बोले: “यूरोपके लोग बड़े बुद्धिमान हैं। उनमें कितना उत्साह है? नयी नयी चीजें, नयी विद्याओं और नये शास्त्रोंका विचार वे करते ही रहते हैं। हम ‘आसुरी, आमुरी’ कह कर उनकी प्रवृत्ति की निन्दा करते हैं, परन्तु क्या हमारी आजकी निवृत्ति भी आसुरी नहीं है? हमारे देशमें कौनसा काम विचारके साथ होता है? हम विचारपूर्वक बुद्धिमान बने, ज्ञानपूर्वक अपनी आवश्यकतायें कम करे, तो भूरे सात्त्विक त्याग कहा जा सकता है। आज हमें सारे सुख और मीज-शौक तो चाहिये, परन्तु हम चाहते हैं कि उनके लिये आवश्यक सारा परिधान तथा विद्या, कला और शास्त्रोंकी शोध दूसरे लोग करें। हमारे बैरागियों, साधुओं, धर्माचार्यों आदि सबको यही वृत्ति होती है। पश्चिमके लोग सुख भोगना चाहते हैं परन्तु उनके लिये आवश्यक ज्ञान, विज्ञान और कलाकी प्राप्तिका प्रयत्न भी वे ही करते हैं। यह मैंने सारे राष्ट्रों, हमारे समाजोंकी बात कही। दोनों जगह अिसके अपवाद-रूप व्यक्ति तो होंगे ही। परन्तु कुल मिला कर देखा जाय तो भारतीय समाज प्रमादका शिकार है और पश्चिमी समाज बुद्धिमान होते हुए भी सुखके पीछे पड़ा हुआ है।”

मेने पूछा : “तब हमारे कुछ मन्तोंने ससारको अमार कह कर अुसके सम्बन्धोंको जो स्वार्थमय कहा है तथा परमेश्वरको सत्य मानकर अुमीमें प्रेम करनेकी जो बात बही है, अुसका क्या तात्पर्य है ? मुझे तो लगता है कि यदि हम अंसा कहे कि यह ससार — यह जगत झूठा है, तो फिर कौभी भी प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती ।”

नाथजी : “अंसा समझनेमें बड़ी भूल है । कुछ माधु-मन्तोके उपदेशके कारण लोग मानते हैं कि यह जगत बिलकुल झूठा है, सगे-सम्बन्धी सब झूठे हैं तथा काल्पनिक देवों और अुनके अलग अलग दिव्य स्थानोंके विषयमें थड़ा रसकर संसारके आवश्यक कर्तव्योंकी अपेक्षा करते हैं । प्राचीन कालमें तो आश्रम-व्यवस्था होनेके कारण ग्रन्थें मनुष्यको जमनाः अेक अेक आश्रमके कर्तव्य पूरे करने आगे बढ़ना पड़ता था । अुसमें स्वभावतः अुमकी अुन्नति होती थी । और अन्तमें अुमें मन्त्रास अथवा मेवावनि धारण करने जीवन दृष्टीतः करना पड़ता था । अथवा योगदानुसार वह निर्वाण-प्राप्तिके लिये कौभी साधना करता था । परन्तु आज सारी समाज-व्यवस्था टूट गयी है । अुसमें कौभी प्रयत्न ही नहीं रह गया है ।”

मे : “परन्तु, नाथजी, ससार झूठा है, यह बात तो गलत है न ? अंसा माननेमें अुन्होंने क्या गलती की ? मुझे तो लगता है कि यह बात जिनकी समझमें नहीं आती है, वे बंधनमें कदापि मुक्त नहीं हो सकते ।”

नाथजी : “ हम अैसे वचन पढ़ते और सुनते आये हैं कि यह ससार अमत्य है, ससार माया है । परन्तु अैसा लगता है कि अिन वचनोंका जो रूढ़ अर्थ हम समझते हैं अुस अर्थमें वे नही कहे गये हैं । संसारकी प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक घटना क्षणभंगुर है, अिसलिये वे दीर्घ काल तक टिक नही सकते । सुख कहो या दुःख — कोअी भी थोड़े समयका होता है । जगतकी किसी भी वस्तुका अेक ही रूप सदा कायम रहे, अैसा जगतका धर्म — नियम — नही है । कोअी भी वस्तु अिस जगतमें शाश्वत नही है । बाह्य वस्तुअे या हमारा शरीर, कोअी भी अविनाशी नही है । अिसलिये ‘ संसार असत्य है ’ अिस वचनका अितना ही अर्थ होना चाहिये कि अैसी अशाश्वत बातों पर, जगत पर, अपने शरीर पर भी, सुखके हेतुसे किसीको भरोसा नही रखना चाहिये — किसीको अवलंबित नही रहना चाहिये । संसारको माया कहनेका यही अर्थ हो सकता है । हम भ्रमत्वके कारण अशाश्वतको शाश्वत मानते हैं, यही हमारी भूल है । अिससे अधिक अर्थ अिस वचनमें नही है । संसार वास्तवमें यदि नही होता तो वह अमत्य है, अैसा कहनेकी आवश्यकता ही पैदा नही होती । और संसार सचमुच नही है, यह प्रतीति किसीको हुआ हो अैसा किसीके वचनमें — ग्रन्थों परमें लगता नही । अिसलिये अुन वचनोंका गलत अर्थ न समझकर संसारकी मज्ची स्थितिको रखते हुआ व्यवहार करना चाहिये ।

“संसारकी प्रत्येक घटना निश्चित नियमोंके अनुसार होती है। अतः नियमोंको हम अभी तक भलीभाँति जानते नहीं। परन्तु मनुष्य योग्य विचारसे, अर्थात् कर्मसे, समय-पुरुषार्थ आदिकी सहायतासे और सद्गुणोंका आश्रय लेकर सुखी हो सकता है। जिस चित्तके द्वारा हमें सुख-दुःखका अनुभव होता है, अतः मनुष्यको शुद्ध और पवित्र बनाना चाहिये। अपने मुखके खानेपर बाह्य जगत्का योग्य उपयोग करनेके लिये हमें अनेक ज्ञानों, विद्याओं और कलाओंका ज्ञान होना चाहिये। अतः तब ही मुखके लिये उपयोगमें आनेवाली हमारी कर्मेन्द्रिया, ज्ञानेन्द्रिया, मन आदि सब बीरोग, स्वस्थ और शुद्ध होने चाहिये। किन्तु बातोंका, किन्तु वस्तुओंका, कब और कितना उपयोग करना चाहिये, यह निश्चित करनेवाला शुद्ध विवेक, मनोवृत्तियोंको रोकने-वाला समय और निग्रह तथा दूसरे भी अनेक आवश्यक सद्गुण हममें होने चाहिये। अन्तमें मरनेके पहले हमें जिस जीवनमें कौनसा सर्वोच्च ध्येय साधना है, अन्तिम समाधान और प्रसन्नता हमें किस बातमें प्राप्त हो सकेगी आदि बातोंका ज्ञान हमें होना चाहिये और अतः ध्येयकी मिट्टिके लिये आवश्यक पुरुषार्थ भी हममें होना चाहिये। ये सब योग्यताएँ प्राप्त कर लें तो हम जिस संसारमें सुखी और कृतकृत्य हो सकते हैं। यह कृतकृत्यता संसारको अमृत्य मानकर चलनेमें प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य विकारोंको जीत कर तथा सद्भावनाओंको शुद्ध और व्यापक बनाकर जीवन बिता सके तो कहा जा सकता है कि अतः

जीवनमें सब कुछ मिल गया । अगले दुर्गम जीवन वित्तानेके लिये जो भी प्रयत्न करना आवश्यक हो वह मनुष्यको करना चाहिये । अगले घबरानेमें काम नहीं चल सकता । वैसे संसारको केवल असत्य मानकर भी मनुष्य कहा बन्धनमें छूट जाता है ? राना, पीना, देहकी रक्षाके लिये आवश्यक सुख-सुविधा भोगना — अगले बातोंसे वह क्या बच पाता है ? आज तक कभी बच पाया है ? बहुत हुआ तो अगले प्राप्त करनेके लिये आवश्यक पुरुषार्थ, परिश्रम आदिका त्याग कोभी करता होगा । लेकिन अंसा करके अगले क्या साधा ? वस्तुका उपभोग और उपयोग तो किया जाय, परन्तु केवल अगले निर्माण और रक्षाके लिये आवश्यक पुरुषार्थ, विद्या — कला — परिश्रम आदिका ही त्याग किया जाय ! अर्थात् अगले सब बातोंका भार दूसरों पर डालकर हम अगले द्वारा मिलनेवाले सुख-सुविधाओंका लाभ उठावें ! संसारको असत्य मानकर यह सब लाभ अगले तरह उठाते रहनेमें मानवताकी दृष्टिसे हमारा पतन है । मनुष्य गलत मान्यताके कारण, भ्रमके कारण, यह भारी दोष करता है । जिसे सारा संसार असत्य लगता है, अगले अपनी सुख-सुविधायें सत्य कैसे लगती हैं ? अगले की आवश्यकता क्यों मालूम होती है ? और यदि ये सब अगले असत्य नहीं मालूम होती, तो अगले लिये आवश्यक परिश्रम, कष्ट आदिसे अगले क्यों घबराना चाहिये ? अतः परम्परासे चले आ रहे अंसे बचनों पर अगले प्रकार विश्वास — थप्पा — न कर हमें मानव-जीवन और जगतके विषयमें स्वयं

विचार करना चाहिये और अमु परसे अपने जीवनका ध्येय निश्चित करना चाहिये । ”

मैंने कहा . “ नाथजी, यह तो मैं समझ गया । परन्तु इस संसारको स्वार्थी क्यों कहा गया है ? इस बारेमें आपका क्या विचार है ? ”

नाथजी “संसारको पूरी तरह स्वार्थी समझनेकी बात मुझे स्वीकार नहीं है । कभी लोग अंसा ममझते जरूर हैं । परन्तु क्या अुन्हे इस बातका भान है कि संसारमें परमार्थवृत्ति — मेवावृत्ति आदि शुभ वृत्तिया भी हैं ? संसारको स्वार्थी कहनेवाले साधु-मतों या संसारी मनुष्योंसे पूछो कि ‘तुम स्वार्थी कहकर जिसकी निन्दा करते हो अुसी संसारके क्या तुम फल नहीं हो ? यदि संसार निरा स्वार्थी ही होता तो तुम्हारे जैसे परमार्थी — परायणोंके लिये सद्भावना रखनेवाले लोग अुसमें कैसे पैदा होते ? और विचार करनेमें मालूम होगा कि स्वार्थी संसारी लोगों पर ही तुम्हारा जीवन-निर्वाह चलता है । ’

“तुम्हीं विचार करो कि संसार केवल स्वार्थी ही होता तो माता-पिता अपने बालको पर अितना प्रेम कैसे करते ? पति-पत्नी अेक-दूसरे पर अितना प्रेम रखकर अपना सर्वस्व निछावर करनेकी वृत्ति कैसे धारण करते ? भाभी-भाभी अेक-दूसरेके लिये प्रेमसे अितना त्याग कैसे करते ? मित्र आपसमें अेकरम बन कर कैसे रह सकते ? देशके लिये लोग अपने प्राण अर्पण करनेको कैसे तैयार होते ? अुसी प्रकार दुःखियों और पीड़ितोंके लिये दयाभावमें

आजीवन अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाले लोग कहाँ मिलते ? सचमुच मुझे तो ऐसा लगता है कि प्रेम पर ही यह संसार टिका हुआ है और अतृप्तकी ओर बढ़ रहा है ।

“और मान लो कि सारा संसार — हमारे सब सगे-सम्बन्धी निरे स्वार्थी हैं तो भी क्या हुआ ? हमारा धर्म तो अुदात्त बुद्धिसे अुनकी सेवा करना और अुन पर प्रेम बरसानेका ही है न ? हमारी अुन्नति इसीमें है ।

“अब मैं तुमसे अेक दूसरा प्रश्न पूछता हूँ । क्या संसारको स्वार्थी कहनेवाले साधु-सत और अन्य लोग परलोकके, वैकुण्ठके, स्वर्गके सुख भोगनेकी लालसासे ही अीश्वरकी भक्ति नहीं करते ? बहुधा यही बात जाननेमें आयेगी । इसमें भी स्वार्थ है । तब अुनकी भक्तिमें भी निःस्वार्थता कहाँ रही ? अुलटे यह कहा जा सकता है कि अैसी भक्तिमें हमारी भावना व्याज-सहित अधिक सुख प्राप्त करनेकी होती है । क्या विचार करने पर अैसा ही नहीं लगता ?

“यदि मेरी ये सारी बातें तुम्हे सत्य और विचारने जैसी लगें, तो अैसी किसी कल्पना या भावनाके पीछे न पड़कर विचारमें जो अुचित मालूम हो अुसीके लिये अपना जीवन अर्पण करो । केवल अपने सुखकी कल्पनाको छोड़कर अुदात्त भावसे दूसरोके सुखका विचार करो । सेवा करनेकी पवित्र वृत्ति धारण करो, अुसका विकास करो और सच्चा कर्मयोग सिद्ध करो । अपने जीवनको प्रेममय बनाकर

संसार और जीवनको देखनेके लिये दृष्ट

४८६

अप्रतिभे मार्ग पर चलो । सहीरखें तो अपनी अप्रतिभा
क्षेत्र मानो । ”

मैंने पुन विचार करके कहा : “नाथजी, भगो तो
जिस जगतमें कौड़ी बूझ ही नहीं है । मुझे लगता है कि
जिसमें आनन्दकी प्राप्ति हो वही कार्य किया जाय और
आनन्द भोगा जाय । संसारकी जिम्मेदारिया और बर्तव्य
गिर पर हो तो आनन्दमें कैसे रहा जा सकता है ? ”

नाथजी : “ तो जिस परम यह मान्य होना है कि
सुख जिम्मेदारियोंमें घबराते हैं और केवल आनन्दकी
विच्छा रखते हैं ! परन्तु विचार करके दया हमारी
भायना जैसी नहीं होनी चाहिये । हम आनन्दकी वृत्तिके
मुक्तम नहीं बनना चाहिये । किसी भी वृत्तिको हम जैसी
बनायें वैसी ही वह बनती है । बर्तव्य-पालनमें ही हम आनन्द
अनुभव होना चाहिये । अगले आनन्द न मिले और
बदाधिक्य दुःख भोगना पड़े, तो भी हम अपना बर्तव्य नहीं
छोड़ना चाहिये । क्योंकि बर्तव्य-पालनमें होनवाला दुःख
भी हमें अप्रतिभा और ही ले जायगा । वह दुःख अपने
भीतिक सुखकी आशामें महन किया हुआ नहीं होना
चाहिये । अतः मत्स्य और बर्तव्यके निम्ने जिनका आत्म-
समर्पण करने किया होगा उनको ही सुखकारी अप्रतिभा
होनी । जिसके अभाववा, जिसे सुख आनन्द करने ही वह
भी श्रेष्ठ प्रकारकी दार्ष्टिक सुखानन्द वृत्ति ही है । अगले
सुखें मरकी दार्ष्टिक या अनपत्ता नहीं मिलेगी । जिस दार्ष्टिक
विरासत लगे कि दार्ष्टिक वस्तुओंमें, दार्ष्टिक इच्छाओंमें, सुख

और आनन्द प्राप्त करनेकी वृत्ति तुम जिनकी कम करोगे
 अतनी ही मर्चा जानि तुम्हें अपने अन्तरमें प्राप्त होगी।
 भुगके लिये अन्ननिष्ठ होकर चित्तको मृदु बनानेका प्रयत्न
 करते रहो। यह निश्चिन है कि चित्तगुद्धि कर्तव्य और
 सात्त्विक कर्म करने रहनेमें ही होगी।

“और विचार करो कि क्या तुममें समारकी वृत्ति
 नहीं है? और उसके मूल भोगनेकी भी इच्छा नहीं है?
 यदि ये दोनों बातें हों तब तो तुम्हारे कहनेका अितना
 ही अर्थ होगा कि तुम केवल जिम्मेदारियोंमें घबराते हो।
 भिसलिये अधिक नहीं तो चार-पांच वर्ष तो तुम्हें घरमें
 ही रहना चाहिये। अपना कोई स्वार्थ न देखते हुअे अुदात्त
 भावनासे केवल सेवा करना सीखो, और अपने भीतर
 सद्गुणोंका विकास करो। इसके बाद आगेका मार्ग में
 तुम्हें घताभूगा।”

मैंने फिर पूछा : “यह सब तो मुझे मान्य है। आपकी
 वताभी हुअी सारी बातें मैं अपने आचरणमें अुताहूंगा।
 परन्तु अेक शका और मेरे मनमें रह गयी है। आयु अल्प
 है। और कार्य अितना विकट है! अैसी स्थितिमें यदि मैंने
 आपका लाभ आज ही नहीं अुठाया तो फिर आगे क्या
 होगा कौन जानता है? अैसा मौका कोई बार बार
 आनेवाला है?”

नाथजी : “अिसकी तुम चिन्ता मत करो। जो
 मनुष्य अुन्नतिकी अिच्छा करता है, अुसे अनुकूल परिस्थिति
 सदा ही प्राप्त होती रहती है। आजका अपना कर्तव्य हम

पूरा कर ले तो बग है। तुम्हारी तीव्र अिच्छा थी अिमलिअे मेरा और तुम्हारा मिलाप हो गया। अैसा ही सदा योग मिल जाता है। मेरी यही कामना है कि तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारी शुभ वृत्तियोंका विकास हो और तुम पूर्णताको प्राप्त करो।”

७

कला और मनुष्यत्व

अेक दिन नाथजीके माथ मेरी ललित कलाओंके विषयमें बातें हुई। मैंने कहा : “क्या आपको अैसा नहीं लगता कि कलामे मनुष्यकी अुन्नति होती है? अुममें मनुष्यका विकास होता है, अितना तो सच है न?”

अुनका अुत्तर था : “कला जिम प्रसंग पर और जिन भावोंसे अुत्पन्न होती है, अुस प्रसंग और अुन भावोंको वह हमारे चित्तमें चिरस्थायी बनानेका प्रयत्न करती है; और यदि वह प्रसंग और भाव पवित्र हों तो अुनके स्मरणमें भी हमें कुछ बल प्राप्त होता है। अिम परमें यह कहना गलत नहीं होगा कि कला अुपयोगी मिद्ध हो सकती है। फिर भी अितना तो निश्चित है कि जब तक वह प्रसंग और वे भाव मनुष्यको पुण्यार्थ अर्थान् प्रत्यक्ष आचरणमें प्रवृत्त नहीं करते, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि अुसका कोअी खास परिणाम हुआ। अर्थान् कला प्रोत्साहक हो तो ही मनुष्यका अुत्कर्ष करनेमें महायक

हो सकती है। कला प्रत्यक्ष जीवन पर शुभ परिणाम उत्पन्न करे तो ही उसका महत्त्व है। अुदाहरणके लिये, हम अेक चित्रको ले। वह दयाभावसे पूर्ण है। अुसे मैं रोज देखता हूँ; अुसके जैसे दूसरे चित्र बना भी सकता हूँ। अुसके कारण मेरे मनमें कुछ भाव भी अुठते हैं। परन्तु जब तक दुनियामें प्रत्यक्ष वैसे प्रसंग देखने पर मेरे मनमें दयाके भाव नहीं अुठते और दुखी मनुष्यकी प्रत्यक्ष सहायता करनेकी वृत्ति मेरे मनमें पैदा नहीं होती, तब तक अुस चित्रको देखकर या वैसे चित्र बना कर मेरे मनमें अुठे हुए भावोका क्या अुपयोग और क्या मूल्य है? कवि और चित्रकार अधिकतर क्या अितनेसे ही सन्तोष नहीं मान लेते? अैसे मौकों पर सहायता करनेवाले लोग अुनमें से थोड़े ही मिलते हैं। यही स्थिति रसिकोंकी है। वे लोग केवल रस लेना ही जानते हैं। अिससे कला आज केवल अुपभोग्य वस्तु बन गयी है। अिसका दूसरा कोअी अुपयोग नहीं दिखायी देता। अिसमें शक नहीं कि जब मनुष्य कलाको साध्य न मानकर प्रेरक और प्रोत्साहक साधनके रूपमें मानेगा, तब वह जरूर अुन्नतिप्रद बन जायगी। यह ध्यानमें रखो कि कोअी भी कला केवल साधन है; अुसका साध्य है अुससे अुत्पन्न होनेवाले सद्भावोंको प्रत्यक्ष कार्यका रूप देना। प्रत्यक्ष कार्यकी सिद्धिमें ही कलाकी सफलता मानी जानी चाहिये। मेरी यह मान्यता नहीं है कि कला छोड़ देनेकी चीज है। परन्तु मैं अंमा भी नहीं मानता कि कलाका मानवके विकासके साथ अिममें अधिक कोअी सम्बन्ध है। दया, क्षमा

आदि गुणों का जीवनमें जितना महत्त्व है, अतना केवल ब्रह्मा का मुझे नहीं लगता । ”

मैंने फिर पूछा : “आपका कहना मुझे ठीक मालूम होना है । परन्तु जो ब्रह्मा देवपूजा और देवताओं का महत्त्व बढ़ानेके निमित्तमें विवर्तित होनी है, अगके धारेमें आपका क्या मत है ? ”

“अगकी भी इसी दृष्टिमें जाच की जानी चाहिये । अगमें भी मानवका विकास होना है, अंग मुझे नहीं दिखायी देता । अगके विपरीत, कुछ हद तक अगमें मुझे मनुष्यका अज्ञान ही मालूम होता है । हम अपने भीतरकी वासनाओंका देवोंमें भी आरोपण करते हैं और वे वासनायें हमारे भीतरमें निकल गयी हैं अंग मानकर दूसरी तरफ अगहीका पोषण करते हैं । हम अपनी सारी वासनाओंको, भांग-वृत्तियोंको, मोच-विचार कर जानपूर्वक निकाल देना चाहिये । देवताके नाम पर या और किसीके नाम पर अगका पोषण कभी नहीं करना चाहिये । समझ गये न ? ”

मैंने कहा : “आपकी बात मैं समझ गया । गुणोंके विकासमें ही मनुष्यका सच्चा विकास है । सद्गुणोंके अत्यधिक ही हमारी वासनायें नष्ट होगी । परन्तु अिन सब बातोंको समझकर अगके अनुसार आचरण करनेके लिये सदा प्रयत्न-शील रहना चाहिये । ”

प्रत्यक्ष सेवा ही धर्म है

एक दिन पूज्य नाथजीने कहा : “साधारण जन समाजके समक्ष अूँचा तत्त्वज्ञान या वेदान्त रखनेकी आवश्यकता नहीं है। यह जिज्ञासु शोधकोंका विषय है। हम सब जो तत्त्वज्ञानके पीछे पड़ गये, अुसके हानिकार परिणाम आये हैं। तत्त्वज्ञानसे लोग सुखकी अपेक्षा करनेवाँ तो नहीं बने। अुलटे, तत्त्वज्ञानका आश्रय लेनेके कारण भ्रम, दंभ, प्रमाद, आलस्य आदि दुर्गुण ही समाजमें बढे हैं। बुढ़ कहा है अुसी तरह मुझे अिस विषयमें लगता है कि आत्मा या नहीं है, वह अविनाशी है या नाशवान अथवा जग अनन्त है या सान्त, अिस वाद-विवादमें किसीको भी पड़नेक जरूरत नहीं है। हमारा शरीर नाशवान है यह तो हम अपने रोजके अनुभवसे जानते हैं, अुसके परिणाम बाह्य जगतमें क्या होते हैं यह भी हम देखते हैं। अुस सब परसे प्रत्येक मनुष्यको यही विचार करना चाहिये कि मैं अपना कर्तव्य अैसे अुत्तम ढंगसे पूरा करूँ, जिससे मेरे चित्तको शान्ति मिले। मुझे अैसे ही कार्य करनेमें मग्न रहना चाहिये, जिनसे अिस दृश्य जगतमें शान्ति बनी रहे और सुखकी वृद्धि हो। अिस प्रकार संपूर्ण जीवन बिता कर मृत्युके बाद जो भी हो अुसे भोगनेके लिये हमें तैयार रहना चाहिये। अैसा विचार हम सब करने लगे तो अुससे हमारा कल्याण

होगा । साधारण जनसमाज अिससे ज्यादा गहरी बातोंको पचा नहीं सकता । अतः वह आचरण कर सके और आचरणके द्वारा अुन्नत बन सके, अंसे ही शब्दोंमें अुसे कुटुम्ब, समाज आदिके प्रति अपना कर्तव्य समझाना चाहिये । अुसके समक्ष अंसे ही विचार रखने चाहिये जिनसे ससारके लिअे अुसके मनमें प्रेम अुत्पन्न हो और ससारके कल्याणके लिअे अपना कर्तव्य पालन करनेकी वृत्ति पैदा हो ।

“लोगोंके मनमें परलोकके बारेमें काल्पनिक आशाय अथवा भय पैदा करनेकी जरूरत नहीं । अीसा समीहने जितना कहा है अुतना ही कहना बस है — ‘जंमें व्यवहारकी आशा तू दूसरोंमें रखता है, वंसा ही व्यवहार तू दूसरोंके साथ कर’ । अिमके सिवा अन्व जो अनेक आशायें और भय हैं, अुनमें सत्य विचारका अंश नहीं है । अिसलिअे वंसी कल्पनाओंमें समाजका कल्याण नहीं होता । समाजकी वर्तमान स्थिति कितनी दयाजनक है ! अपने सम्पर्कमें आनेवाले मनुष्योंके सुख-दुःखका विचार करना छोड़ कर हम देव-देवियोंकी काल्पनिक मूर्ति निर्माण करते हैं और अुनकी पूजा करते हैं ! मचमुच यह विचारहीन परम्पराका ही परिणाम है । परन्तु अिम सबका कारण क्या है, अिस पर भी कभी किमीने विचार किया है ? विचार करनेने पता चलेगा कि प्रत्यक्ष जगत्में जिनके साथ हमारा सम्बन्ध होता है, अुनके साथ मदभाव और प्रेमभावमें व्यवहार करनेकी शक्ति हममें नहीं है । हमने अपनी दिव्य कल्पनाओंमें जिन देव-देवियोंका निर्माण किया है, अुनकी हमारे मनकी मन्त्रोप

अंगीकार करना । मध्य है । अंग भी गुण है ।
 अतिरिक्त नहीं रहनी चाहिये । आयेक मनुष्यका ही
 विकास होना चाहिये । दूसरे बिना अंगीकार नहीं हो
 सकता । अंग बोली जेगा धर्मद्वारा काम शोचना चाहिये
 अंगमें गुण गुण विकास साधनका अंगका मिले । अंग
 धर्मद्वारा काम मि : कामका, नव अंगोंद्वारा विचार की
 गुणद्वारे मनम कामी नहीं अंगका । गुण विगी भी शोचते
 बिना वह काम करते रहोगे और अंगीकार गुण भवता अंगका
 साध लोमें । ”

मेरा दूसरा प्रश्न था : “अंग काम क्या धर्मोपार्जन
 करनेवाला होना ही चाहिये ? ”

“यह धर्मोपार्जन करनेवाला होना ही चाहिये, अंग
 नियम नहीं है । किसी समय अंगका अंग परिणाम न भी
 आवे । परन्तु निर्वाहके लिये दुरु भावने धन प्राप्ति करनेमें
 भी दोष नहीं मानना चाहिये । बेशक, धन पर हमें प्रेम
 नहीं होना चाहिये, अंग पर हमें आगका नहीं होना चाहिये ।
 परन्तु अंगके प्रति हमारे मनमें वैर नहीं हो सकता ।
 जीवनमें अंगीकार प्रधानता देकर धर्मधर्मका विचार न
 रखते हुअे हम धन प्राप्ति करें, अंगका लोभ करें प्रपचा
 अंगके कारण गये करने लगे तो यह हमें अवश्य डुबा देगा ।
 तुम्हीं सोचो, क्या जीवन-निर्वाहके लिये दुनियामें धनकी
 आवश्यकता नहीं है ? अंग कौन मनुष्य है, जो अंगकी
 थोड़ी भी मदद नहीं लेता ? बड़े बड़े सन्तोंका भी कहना
 कि शुद्ध मार्गसे धन अंगार्जन किया जाय और अंगित,

बुद्धि और निर्लोभ वृत्तिमें अमका व्यय किया जाय । जिस तरह आचरण करनेवाला मनुष्य अन्नत बनना जाना है । यह गृहस्थाश्रमका मुख्य धर्म है । जिसमें पुरुषार्थ, वैराग्य, जन-निर्णयकी दृष्टि—मय कुछ है । जनसाधारणके लिये यह कितना सरल परन्तु अमूल्य आदर्श है ? ”

मैंने दिनभर जिस बात पर विचार किया और रामजी फिर अन्तमें पाम जाकर पूछा . “ गवरेर धर्मयुक्त धर्मके बारेमें आपने जो बात कही, अमका क्या अर्थ है ? ”

नाथजी बोले . “ प्राचीन काष्ठम वर्ग या कुलम चले आये व्यवसायको स्वधर्म कहा जाना था और अमसे मनुष्यकी आजीविका चलेनी थी । चार वर्णोंकी व्यवस्था अमकी सूचक थी । परन्तु आज पुरानी मारी व्यवस्था टूट गयी है ; और नई व्यवस्थाकी अभी रचना नहीं हो पायी है । आज तो अपनी वृत्ति, शक्ति और अपने सम्पत्तियोंके अनु-प्राप्त कोभी समाजोपयोगी और समाजका कल्याण करनेवाला धर्म हमें ग्राह्य लेना चाहिये और अमीको अपना स्वधर्म समझना चाहिये । यह न मिले तब तब परिवारमें परम्परागत धर्म जाया धर्म करते रहना चाहिये । और अमसे करने दृष्टि धीरे धीरे अमने अधिक योग्य और अन्नम कार्य अपने लिये ग्राह्यनेका प्रयत्न करना चाहिये । जिस बातका भी विचार करना चाहिये कि अपना धर्मपरम्परागत धर्मोत्पादक धर्म समाजके लिये बिल्कुल अनावश्यक और घातक तो नहीं है ? यदि वह अंग न हो तो अमसे अपनी आजीविकारे माधनके रूपमें स्वीकार करना चाहिये । जिसके निवा,

यदि अंग कर्मके पीछे शुद्ध भावना और शुभ अङ्ग हो, तो वह कभी तुम्हारा नुकसान नहीं कर सकता। अतः अंग धर्मोंका विचार करके तुम अपना कर्म निश्चित करो। और जब तक तुम्हारे स्वभावके अनुकूल कर्म तुम्हें न मिले, तब तक घरमें वंशपरम्परासे चला आया व्यवसाय करके असीमे अपनो अन्नति साधनेका प्रयत्न करो।”

अिमके पश्चान् अन्होंने मुझे महाभारतकी व्यास-गीताकी क्या मुनाकर अमके आधार पर अपना मुद्दा समझाते हुअे कहा : “कर्म करते हुअे कर्मके पीछे रहे अङ्ग पर मुख्य भार देना चाहिये। और वह कर्म सामान्य नीति-धर्ममें रहित तो कभी नहीं होना चाहिये।”

मैंने कहा : “नाथजी, आपकी बातें सुननेके बाद अब मैं बदल गया हूँ। अब मुझे लगता है कि मैं बम्बई जाकर रहूँ और दूसरा कुछ अिस समय न किया जा सके तो भी कुटुम्बीजनोंकी यथाशक्ति सेवा करूँ। अन्तमें मुझे कुछ नहीं हुआ तो भी अितना सन्तोष तो रहेगा कि मैं अपने प्रियजनोके बीच हूँ। क्योंकि मेरा यह विश्वास है कि मुझे देखकर मेरे छोटे भाजी-बहनों, माता-पिता और मित्रोंको आनन्द होता है। आपके सहवाससे वात्सल्यका महत्व मेरी समझमें आ गया है। अुससे मैं अपना थोडा-बहुत अुत्कर्ष साधनेका प्रयत्न अवश्य करूँगा।”

नाथजीने कहा : “ठीक है। तुम बम्बई अवश्य जाओ। दीवान्जी पर ही चले जाओ, जिससे तुम्हें देखकर सबको आनन्द हो। अुत्सव या वार-त्योहारके अवसर पर

डका घर लौट आये तो घरके बड़े-बूढ़ोको कितना आनन्द होता है ! ”

दूसरे ही दिन बम्बली जानेका निश्चय करके मैं अनुके पासमे आठा । मेरे मनका अक निश्चय हो जानेसे मैं शान्त हो गया ।

*

*

*

दूसरे दिन धनतेरुम थी । सवेरे ही सब कामोंसे निवटकर मैं अनुके पास बैठा था । मैं शान्त हो गया, इसका सन्तोष अनुके मुख पर स्पष्ट दिखायी दे रहा था । वे बोले “ नीलकण्ठ, तुम आज जाओगे न ? ”

मैंने कहा, “ जी हा, आपने मुझे आज्ञा दी और जानेमें ही मेरा कल्याण है असा मुझे समझा दिया, इसलिये मैंने जानेका निश्चय कर लिया है । ”

अनुहोने कहा . “ देखना, मेरी कही हुयी अक-अक बात ध्यानमें रखना । अनु सब पर विचार करना और अनुहे अपने जीवनमें अतारनेका प्रयत्न करना । मैं जानता हूँ कि मुझे छोड़नेमें तुम्हें दुख हो रहा है । किन्तु इसीमें तुम्हारा कल्याण है, इसीमें तुम्हारा अत्कर्म है । मेरे साथ रह कर तुम अपना कर्तव्य भूलो तो अमुसे तुम्हारा कल्याण नहीं होगा । योग्य कर्म खोज निकालना । वही तुम्हारा धर्म है । असा पालन करनेका प्रयत्न करना । मत्कर्म करनेमें ही मनुष्यका विकास है । ”

मैं बोला : “ जी हाँ । लेकिन कौन जानता है हम फिर कब मिलेंगे ? ”

मरि भूमि कर्मों की पीछे कुछ भावना और मूल्य भुंते हैं।
 गो यह कभी मुझसे नुस्खान नहीं कर सकता। जो
 भिन्न बातों का विचार करने तुम भवना कर्म निश्चित करो।
 और जब यह मुझसे स्वभाव से अनुकूल कर्म तुम्हें न
 मिले, तब यह परम कष्टावस्था में चला आना स्थान
 कर्मों के भूमि में भवना भुंति का मायने का प्रयत्न करो।”

प्रिय के वदना भुंति ने मुझे महाभारत की व्याख-
 यिता की कथा सुनाकर भुंति के आधार पर अपना मुझ समझने
 दृष्टि कहा “कर्म कर्मों दृष्टि कर्मों की पीछे रहे भुंति
 पर मुझ भार देना चाहिये। और यह कर्म सामान्य
 नीति-भूमि में रहना गो कभी नहीं होना चाहिये।”

मैंने कहा : “नायजी, आपकी बातें मुझने के बाद
 अब मैं बदल गया हूँ। अब मुझे लगता है कि मैं बन्धनी
 जाकर रहूँ और दूसरा कुछ भिन्न समय न किया जा सके
 तो भी कुटुम्बीजनों की यथाशक्ति सेवा करूँ। अन्त में मुझने
 कुछ नहीं हुआ तो भी भिन्नता गन्तोप तो रहेगा कि मैं
 अपने प्रियजनों के धीन हूँ। क्योंकि मेरा यह विश्वास है
 कि मुझे देवकर मेरे छोटे भाई-बहनों, माता-पिता और
 मित्रों को आनन्द होता है। आपके सहवास में वात्सल्य का
 महत्त्व मेरी समझ में आ गया है। अतः मैं अपना थोड़ा-
 बहुत अत्यन्त साधने का प्रयत्न अवश्य करूँगा।”

नायजीने कहा : “ठीक है। तुम बम्बजी अवश्य
 जाओ। दीवाली पर ही चले जाओ, जिससे तुम्हें देसकर
 सबको आनन्द हो। अतः या वार-त्योहार के अवसर पर

लड़का घर लौट आये तो घरके बड़े-बूढ़ोंको कितना आनन्द होता है ! ”

दूसरे ही दिन बम्बली जानेका निश्चय करके मैं उनके पासमें अठा । मेरे मनका अंक निश्चय हो जानेमें मैं शान्त हो गया ।

*

*

*

दूसरे दिन घननेरग थी । गवारे ही गय बामोंमें निश्चयकर मैं उनके पासमें अठा था । मैं शान्त हो गया, अगला गन्ताप उनके मुख पर स्पष्ट दिखायी दे रहा था । वे बोले “ नीलकण्ठ, तुम आज जाओगे न ? ”

मैंने कहा, ‘ जी हा, आपने मुझे आज्ञा दी और जानेमें ही मेरा बन्धन है अंसा मुझे समझा दिया, निर्मात्रे मैंने जानेका निश्चय कर लिया है । ”

अन्होंने कहा “ देखना, मेरी बही हूँ मैं अंक-अंक बात ध्यानमें रखना । अनु गय पर विचार करना और अन्हें अपने जीवनमें अन्तर्गता प्रयत्न करना । मैं अन्तर्गता हूँ कि मुझे छोड़नेमें तुम्हें दुःख हो रहा है । किन्तु अगामीमें तुम्हारा बन्धन है, अगामीमें तुम्हारा अन्तर्गता है । मेरे गाय रह कर तुम अन्तर्गता करने अन्हें तो अन्तर्गता तुम्हारा बन्धन नहीं होता । योग्य बनें योग्य निश्चय । यही तुम्हारा धर्म है । अन्तर्गता करनेका प्रयत्न करना । अन्तर्गता करनेमें ही अन्तर्गता निश्चय है । ”

मैं बोला : “ जी हा । लेकिन कौन अन्तर्गता है हमारे अन्तर्गता करनेमें ? ”

अन्तर्गत रहता है। मित्र (की) स्थापना होनी चाहिये।
 अन्तर्गत होनी चाहिये। यह निश्चय ही है कि हमें मित्रों
 आवश्यकता महसूस होनी है। यह हमें स्पष्ट हो कि
 हमारे हैं। मित्रों के बिना हमारे जीवन में
 कुछ भी नहीं होना चाहिये।

हमारे दिन अपने अन्तर्गत रहने में व्यतीत हो जाते हैं।

१०

कानन के नाम पर अवलोकन

पुनः नाथजी महाराज पर (कानन) आने शुरू है।
 एक दिन अन्तर्गत पर निम्नलिखित मित्रों द्वारा-कानन
 और कानन नामा। यह सब ध्यान से ध्यान और ध्यान :
 "जीजिये, यह गंध। अन्तर्गत में कानन का अनुपयोग कीजिये।"
 पैर हाथों लेकर अन्तर्गत कहा : "अन्तर्गत कानन! वे तो
 मेरे पास ही हैं। यह वस्तु है। मुझे जानने हो न, मैं कैसे
 कानन का अनुपयोग करता हूँ?"

अन्तर्गत अन्तर्गत से एक कानन निकाल कर अन्तर्गत पर
 भाग किये और एक पर निम्नलिखित लगे। मैं ध्यान : "यह
 क्या? अन्तर्गत कहाँ लिखा जाता है? कानन की अतिनी
 किफायत किजिये?"

नाथजीने कहा : "क्या चारों ओर काफी जगह
 छोड़ कर ही लिखना चाहिये? और पीछे का हिस्सा बिना

कारण कोरा छोड़ देना चाहिये? आवश्यकता न होने पर मैं अधिक कागज कैसे काममें ले सकता हूँ? वेशक, आजकलकी पुस्तकोमें अंसी पद्धति होती है। परन्तु अमुक वजहमें पुस्तकें कितनी महंगी पड़ती हैं?”

मैंने कहा : “असमं गलत क्या है? क्या असमं सुन्दरता नहीं है? अमके बिना तो पुस्तक हाथमें लेनेकी भी अच्छा नहीं होगी। पुरानी पुस्तकें और पत्र देखिये, पैसे लाये जाते थे?”

वे कहने लगे “तुम्हारी यह भावना गलत है। यह सही और जरूरी है कि लिखावट स्पष्ट, स्वच्छ और व्यवस्थित होनी चाहिये। लेकिन अमुकमें व्यर्थका आडम्बर क्यों होना चाहिये और अमुक कारणमें अमुक अधिक महंगी क्यों बनाना चाहिये? कोश भी चीज मावधानीपूर्वक और आवश्यक मात्रामे ही काममें ली जानी चाहिये। अतः पर तुम विचार करो। अमके बिना, चीजे क्या बिना परिश्रम बिधे उत्पन्न होती हैं? सब किमीका परिश्रम हम व्यर्थ पैसे नष्ट कर सकते हैं? जो चीज हमारे पास आवश्यकतासे अधिक हो या जिन चीजका हमारे लिये कोश्री उपयोग नहीं हो, वह हम दूसरोंको दे दे किन्तु व्यर्थ नष्ट न करें। अमुक दुरुपयोग न करें। हमें मनुष्यके प्रत्येक परिश्रमका विचार करके विपादनशास्त्रोंमें अमुक उपयोग करना चाहिये। अतः बरके ही हम अमुके धर्मके ऋणमें मुक्त हो सकते हैं। केवल पैसे देकर हम अने ऋणसे मुक्त नहीं हो सकते।”

निषेधका लोप करनेके लिये अथवा स्वयं अनि सबसे परे है, यह दिखानेके लिये अन्होंने जान-बूझकर अंमा आचरण नहीं किया होगा । लेकिन प्रत्येक मनुष्यको भोगके समय राजा जनक ही क्यों याद आते हैं ? ऋषि, मुनि, शुक, वृद्ध, महावीर जैसे त्यागियोंमें से किसीका स्मरण क्यों नहीं होता ? हमारे देशमें अनेक ज्ञानी पुरुष हो गये हैं । परन्तु अंनमें से अंषने भी अल्पित भावमें भोग भोगनेका अपदेश नहीं किया है । हमारी अिम चलन मान्यताके कारण समाजमें अतिशय दभ और पागड चलता है । कोअी कह दे कि अमुक मन्त राजयोगी है, फिर तो अुमके लिये सारे भोग-विलास प्रस्तुत किये जाते हैं । समक्षमें नहीं आता कि अंमें पुरुषों पर लोगोंकी श्रद्धा कैसे जमती है । मुझ लगता है कि यह सब अन्ध-परम्परा है । अंफने कहा और हमरेने कोअी विचार न करके अुमें मान लिया ! लोगश्रद्धाके कारण चलनेवाले अिम दभका विरोध कौन करे ? और अंमें दभी लोग काम क्या करते हैं ? वे लोगोंकी प्रिय कामनाओंको केवल अपने कृपा-प्रसादसे सिद्ध कर देनेका शोग करते हैं ! और जहा देखो वहा लोग अज्ञानके कारण अंमें ही शोगियोंके पीछे लगे दिखायी देते हैं । कोअी अंनमें भिन्न मत प्रकट करना है तो अुसे नास्तिक या अंमा ही कुछ कह कर अुमसे ट्रेप किया जाता है । अंमा दभ समाजमें आज ही नहीं चलता । संत तुकारामके समयमें भी अंमें दभी लोग थे, अिसीलिये अन्होंने कहा है :

" आवडीच्या मते करितो भोजन ।
 भोग नारायणें म्हणती केला ॥
 अवघा देव म्हणें वेगळें तें काय ।
 अर्थासाठी डोळी फोडूं पाहे ॥
 लाजे कमडलू धरिता भोपळा ।
 आणीक धीगळा प्रावरण ॥
 शाला गडवे घातुद्रव्यअच्छा निती ।
 नैश्वर्य बोलती अवघे मुणें ॥
 तुका म्हणें तया देवा नाही भेटी ।
 अंगे कल्लसोटी जन्म घेता ॥ " *

अंगे लोकांचे कारण ममाजमें न केवळ द
 अज्ञान ही बढना है, बल्कि अनेक माय अन्ध
 भी बूढ़ि होनी है । अंगे ही लोकांमे प्रग्न जीर
 होकर गन्त तुकारामने बरु हंगी :

" निष्कामोपवाच्या जळीं ज्ञानपोटी ।
 शरी दृष्टिभेटी न हो त्याची ॥

नाही मन्तचिह्न अमटलें अगीं ।

अपदेशालागी पात्र क्षाला ॥

पांहीं नेणें कासे लाविनी आणिका ।

म्हणावे त्या मूर्खा काय आतां ॥

मिणले मे गेले मिणलियापागी ।

क्षाली त्या दोघाची अेक गति ॥

तुका म्हणे अहो देवा दीनानाया ।

दाखण आता नको त्याचें ॥”*

ममाजमें अंगे लोग हर युगमें पाये जाते हैं । जहां वम परिधममें अधिक भुव-भुविद्या प्राप्त करना मभव होता है वही दभवी कल्पना निर्माण होती है । मनुष्य द्रव्य, भोग, मान्यता, प्रतिष्ठा आदि अचित्त परिध्रम और मीधे मार्गमें प्राप्त करे नां अममें विधेय दोष नहीं माना जा सकता । अधिकमें अधिक हम अमे लोभी, लालची, संसारमें आमकन और महत्वाकांक्षी बहेंगे, परन्तु दभी नहीं बहेंगे ।

* भाग एमें अंगे मुखलांल्लुव लोगोकी जानबानांको । अनेके सोन मुने वभी न हां । अनेके जीवनमें मन्तवा अेक भी लक्षण नहीं दीगता, फिर भी वे अस्मेको दूसरोकी अपदेश देनेके अधिकारी मानतें हैं । मुन्को नंतरता न आता हां फिर भी जो दूसरोंन बह कि मुने पवडे रहता, अंगे मुग्में क्या कहा जाय ? क्या दृभा आदमी यह पवे हूअेके पाम जाता है तब दोनोकी अेक ही गति हांती है । मुतागम बहते हैं कि हे दीनानाय मुझे अंगे मोगोका मुह भी देखेकां न सिरे !

उसे जो कुछ चाहिये वह सब खुले रूपमें प्राप्त करने
 वह प्रयत्न करता है । उसके लिये वह प्रयत्न करता है,
 परन्तु ढोंग नहीं करता । मुफ्तमें किसीसे कोई सुख-सुविधा
 प्राप्त करनेकी अिच्छा नहीं रखता । उसके लिये सदा
 प्रयत्नशील रहता है, परन्तु किसीके साथ छल-कपट अथवा
 धोखेबाजी नहीं करता । अपनी आवश्यकताकी हर वृ
 वह खुले रूपमें अपनी शक्ति, बुद्धि और समय खर्च करके
 प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है । परन्तु दभी मनुष्य किसी भी
 तरहका पुरुषार्थ किये बिना गलत रास्तेसे सुख-सुविधाएँ
 पानेका प्रयत्न करता है । इससे उसकी और समाजकी
 अधिक हानि होती है । ऐसा दंभ केवल धार्मिक और
 आध्यात्मिक क्षेत्रमें ही नहीं चलता, बल्कि समाजमें
 धन, प्रतिष्ठा, मान्यता, सत्ता आदि प्राप्त करनेके जो जो भी
 प्रकार हैं, उन सबमें एक या दूसरे रूपमें दंभ और
 धोखेबाजी चलती है । तुम जानते हो न कि आज सामाजिक
 और राष्ट्रीय कार्योमें भी कितना दंभ चलता है ? आज
 जो लोग समाजसेवक और राष्ट्रसेवक कहे जाते हैं, उनमें
 भी ऐसे आदमी हैं । जब तक समाजमें ज्ञान और
 चारित्र्यकी वृद्धि नहीं होती, तब तक ऐसी बातें चलती
 रहेंगी । अतः प्रत्येक विचारशील मनुष्यका कर्तव्य है कि
 वह गलत कल्पना, मान्यता, भावना, आदर्श, तथा अन्यथा
 और अज्ञानका यथाशक्ति नाश करनेका प्रयत्न करे । वह
 स्वयं मादगीमें रहे; परिश्रम करनेमें होनता न माने और
 इस विचारको दृढ़तासे पकड़े रहे कि सेवा कराना धर्म

नहीं, बल्कि सेवा करना हमारा धर्म है। तभी हम अपना और समाजका सुधार होनेकी आशा रख सकते हैं।”

असो रामको मने फिर यह बात अुनके सामने निकाली।

“नाथजी, आपने दोपहरमें जो बात कही, अुस परसे मेरे मनमें कुछ विचार और शंकाये अुठती हैं। आपने जिन लोगोंकी बात कही, वे त्याग और वैराग्य किसलिअे धारण करते हैं? क्या वे पहलेसे ही मुख-मुविधा, मान्यता, प्रतिष्ठा आदिकी आशा और अुद्देश्य रखकर त्याग और वैराग्यका आश्रय लेते हैं? मैं नहीं मानता कि वे अैसे हेतुसे ही यह सब करते होंगे। मुझे लगता है कि अुनकी वृत्ति और अुनका हेतु पहलेसे ही गलत नहीं रहता होगा। परन्तु लोग अुनके पतनका कारण बनते होंगे।”

नाथजी : “तुम्हारी बात सच है। सबकी वृत्ति भूतमे ही शंभ करनेकी अथवा लोगोमे मुख-मुविधा या पूजा प्राप्त करनेकी नहीं होती। परन्तु अपने मनको अच्छी तरह समझ बिना या क्षणिक आवेशमें आकर अथवा अन्य किमी कारणमे वे त्यागी और विरक्त बन जाते हैं और अुस भावको अपनाते हैं। बादमें अनुकूल परिस्थिति, लोगोंका सम्भाव और मान्यता मिलते ही चित्तमे दबी हुई अुनकी पुरानी निच्छाये और वासनाये पुनः जाग्रत होनी हैं और अुनकी आशाये फूटनी हैं। कुछ लोग समाजके अज्ञान और अंधधडाका लाभ अुठानेके लिअे अंते गलत रास्ते लगे हुए लोगोंमें मिल जाते हैं और हर तरहसे मान, प्रतिष्ठा तथा

जीवन-सिद्धि

पूज्य नाथजी हमारे यहा आकर दो-तीन दिन रहने-वाले थे। अतनेमे अंक भाभीको पहलेसे वचन दे चुकनेके कारण बडताल जानेका मौका आया। दूसरे दिन सबेरे मैंने नाथजीसे कहा "आज शामको मुझे बडताल जाना पड़ेगा। परन्तु अब मुझे लगता है कि भाभीके साथ जानेकी बात स्वीकार करके मैं ध्यय ही कर गया।"

नाथजी : "असमं क्या हुआ ? तुम्हें कुछ दिन बाहर घूमना हो तो घूम आओ।"

मैंने कहा "पहले तो आपने मुझसे कहा था कि भीस्वर हमारे अन्तरमें ही है और उसे हमें अन्तरमें ढूढ़ना चाहिये। यह बात मेरे गले अतर गयी है। असलिये मैंने स्थान पर जानेकी अब मेरी अच्छा नहीं रही। कुछ दिनके लिये बम्बयीसे बाहर जानेको मिलेगा, थोड़ा हवा-पानी बदलेगा, अगली विचारसे मैंने अनुके साथ जाना स्वीकार किया था। परन्तु अब जाना अच्छा नहीं लगता। फिर भी यत्न दे चुका हूँ असलिये जाऊंगा।"

असके बाद अनुके सहवासमें आनेमे पहलेकी अपनी कुछ मान्यताओं और श्रद्धाके बारेमें मैंने नाथजीसे बात की। मैंने कहा : "नाथजी, अग समय मुझे जंगल लगता था कि हिमालय या वने ही किसी विशेष स्थानमें परमात्मा रहता है और वही जानेसे हमें भुमकी प्राप्ति हो सक्ती

सुख-सुविधा प्राप्त करनेमें सफल होते हैं। असलिये पूर्ण विचार किये बिना केवल क्षणिक आवेशमें आकर मनुष्यको किसी थोष्ठ कार्यमें नहीं लगना चाहिये। अंसे ही प्रसंगोक्त विचार करके सन्त तुकाराम आग्रहपूर्वक कहते हैं :

“आशा हे समूळ खणोन काढावी ।

तेव्हाचि गोसावी व्हावें तेणें ॥

नाही तरी सुखे असावे संसारीं ।

फजिती दुसरी करूं नये ॥

आशा मारुनियां जयवंत व्हावें ।

तेव्हांचि निघावे सर्वातूनि ॥

तुका म्हणे जरी योगाची तातडी ।

आशेची बीबुडी करी आधी ॥”*

अर्थात् योग्य रीतिसे संसारमें रहकर ही आशारहित बननेका प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु शक्तिसे बाहर जो मार्ग है उसे अपनाकर कभी दंभ नहीं करना चाहिये।

* मनमें आशाको जड़मूलमें नष्ट करके ही मनुष्यको गान्धर्व बनना चाहिये। अर्थात् न हो गये तो योग्य रीतिमें मगारमें ही रहना चाहिये, परन्तु अपनी दोहरी फजीहत नहीं करनी चाहिये। आशाको नष्ट करके अग्रे पर विचार पानेके बाद ही सर्वस्वका त्याग करना चाहिये। तुकाराम कहते हैं कि अगर तुम योगकी व्यापुर्णा रीति से पहले आशाका भुञ्जें कर।

जीवन-सिद्धि

पूज्य नाथजी हमारे यहाँ आकर दो-तीन दिन रुकने-
वाले थे। अतनेमें एक भाजीको पहलेमें उचन दे पढ़नेके
कारण बटनाक जानका मौका आया। दूसरे दिन गधेरे में
नाथजीने कहा "आज नामका मुझ से जाना पड़गा।
परन्तु अब मुझे लगता है कि भाजीके साथ जानकी
दान स्वीकार करने में व्यर्थ है।" ।

नाथजी "जिगम बसा हुआ कुछ कुछ दिन बाक
धूमना हो तो धूम जाओ।

मैंने कहा "पहले ही जगन भगवत का हि
भीतर हमारे अन्तरम ही है और जगत्तम जगत्तम दुःख
पाहिजे। यह बात मेरे मन अन्तर सज्जे है। अस्मिन्ने जेमे
स्थान पर जानकी अब नही अस्मिन्ने लगी रहीं। कुछ दिनों
हिंम दायजीने बाक जानकी मिलेगा, बाक दायजीने
ददेगा, जिगी विचारमे मैंने अपने साथ आया स्वीकार
किया था। परन्तु अब जगत्तम भगवत मनी गच्छा। रिश
भी दान दे चुका है अस्मिन्ने जगत्तम।

जिगमे बाक जगत्तम दायजीने जगत्तम जगत्तम
कुत्त दायजीने और जगत्तम दायजीने दायजीने दाय
जी। मैंने कहा "दायजी, दाय दाय दाय जगत्तम
दा कि दायजीने दाय ही दाय दाय दाय दाय दाय
दाय है और दाय जगत्तम दाय दाय दाय दाय दाय

मुरा-मुविधा प्राप्त करनेमें सफल होते हैं।
 विचार किये बिना केवल क्षणिक आवेगमें
 किसी श्रेष्ठ कार्यमें नहीं लगना चाहिये।
 विचार करके सन्त तुत्ताराम आग्रहपूर्वक

“आया है समूझ खाने काजरी।
 तेम्हावि गोमावी ह्ये
 माही तरी सुखे असावे संजारी।
 फजिती दुजरी म
 आशा मारनिचां जवरे ह्ये।
 तेम्हावे निजो
 दुका न्हये जरी नेरुचे टांगी।

जीवन-सिद्धि

पूज्य नाथजी हमारे यहा आकर दो-तीन दिन रहने-
 वाले थे । अतनेमें अंक भाजीको पहलेसे वचन दे चुकनेके
 कारण बड़ताल जानेका मौका आया । दूसरे दिन रावेरे मैंने
 नाथजीसे कहा " आज शामको मुझे बड़नाल जाना पड़ेगा ।
 परन्तु अब मुझे लगता है कि भाजीके साथ जानेकी
 बात स्वीकार करके मैं व्यर्थ ही बंध गया । "

नाथजी : " जिसमें क्या हुआ ? तुम्हें कुछ दिन बाहर
 घूमना हो तो घूम आओ । "

मैंने कहा " पहले तो आपने मुझसे कहा था कि
 जीवन्मूर्त हमारे अन्तरमें ही है और अग्रे हमें अन्तरमें दूबना
 चाहिये । यह ध्यान मेरे गले अतर गजी है । जिसलिअे अंसे
 स्थान पर जानेकी अब मेरी अच्छा नहीं रही । कुछ दिनों
 लिअे ब्रह्मजीसे बाहर जानेको मिलेगा, थोड़ा हवा-मानी
 बढेगा, इसी विचारमें मैंने अुनके साथ जाना स्वीकार
 किया था । परन्तु अब ~~जाना~~ अच्छा नहीं लगता । फिर
 भी वचन दे चुका जाऊंगा । "

फिर

मैं जानेगे पहलेकी अपनी
 रने मैंने नाथजीसे बात
 समय मुझे अंगा लगता
 । विशेष स्थानमें परमात्मा
 अुमकी प्राप्ति हो सकती

सद्गुण — प्रेम, दया, क्षमा, शांति आदि — प्राप्त करने चाहिये । जब तक उस दिशामें हमारा प्रयत्न न हो तब तक सारी बातें व्यर्थ हैं — भले हम हिमालय पर जाकर तपस्या करें या रामेश्वरकी तीर्थयात्रा करें ।

हम जिसे तीर्थ कहते हैं, वह मूलतः किसी साधु-सतके रहनेका स्थान होता है । अतः उनके जीवन-कालमें उनके शील, चारित्र्य, सत्कर्मोंके आचरण, धर्मप्रवृत्ति आदिके कारण वहाके वातावरणमें पवित्रता और शांति रहती है । अतः वह स्थान लोगोको स्याभायिक ही पवित्र मालूम होता है । परन्तु जैसे साधु-सतोंके अवसानके बाद अतः स्थानोंका महत्त्व घटा दिया जाता है, जिसकी वजहसे वे मायाके स्थान बन जाते हैं । ”

मैंने कहा : “ प्रत्येक संत या सम्प्रदायका स्थान सतके चले जानेके पश्चात् ऐसा ही बन जाता है । आश्चर्य तो यह है कि वह ऐसा क्यों बन जाता है । ”

नाथजी : “ जब तक हम मनुष्य-स्वभावको पहचान नहीं सकते, तब तक हमें आश्चर्य होता है । देखो, पहले तो कोई साधु या सत उस स्थानमें रहता है; और वह लोगोंको नीति और सदाचारके मार्ग पर ले जानेका प्रयत्न करता है । अतः उनकी मृत्युके बाद उसके अनुयायी या भक्त अपने गुरुकी महिमा बढ़ानेके लिये उस स्थान पर मंदिर, मूर्ति आदिकी स्थापना करते हैं । अतः बाहरी आडम्बरसे जनसमुदाय उसकी ओर आकर्षित होता है । बादमें परम्परासे उसे सम्प्रदाय अथवा पन्थका रूप प्राप्त

होने लगता है । जिसमें से जिन्हें भौतिक सुख, मान, प्रतिष्ठा, धन आदि प्राप्त होता है या प्राप्त करनेकी अिच्छा होती है, वे लोग जिस अुद्देश्यसे अुम स्थानका महत्त्व बढ़ाकर अुसे तीर्थका रूप देते हैं कि श्रद्धालु जनसमुदाय अधिकाधिक सग्यामें बहा आता रहे । सन्तके जीवन-कालमें केवल वैराग्यनिष्ठ और ज्ञानकी अिच्छा रखनेवाले लोग ही बहा आते हैं । परन्तु बादमें अुम स्थानमें बाह्य आडम्बर बढ़ानेके कारण और अनुयायियों द्वारा अुम सन्तके अद्भुत सामर्थ्यके विषयमें झूठी बातें प्रचलित हो जानेके कारण वहाके अुत्सवोंमें राग-रग, मीज-मजा, प्रसाद, भोजन और अन्नकूटका बोलबाला रहता है । अिमके फलस्वरूप वहा आनेवालोंकी सख्या स्वभावतः बढ़ने लगती है । अुनमें मनीषी माननेवाले, अपना माल बचनेवाले व्यापारी, चोरी करनेका मौका ढूढ़नेवाले चोर, नाटक-खेल-तमाशा बर्गरासे लोगोंका रजन धरके पैसा कमानेवाले, माधुत्वका ढोंग धरके भोलेभाले लोगोंको अपने जालमें फमानेवाले — अिम प्रकार अनेक हेतुओंमें आनेवाले अनेक प्रकारके लोग होते हैं । वे सब तीर्थकी महिमा बढ़ानेका प्रयत्न करते हैं । तीर्थकी अिम झूठी महिमाके कारण भोले और अन्ध श्रद्धावाले लोग फंस जाते हैं । तीर्थ-अुम्वन्धी श्रद्धा समाजमें परम्पराने चलती आती है । परन्तु वास्तवमें प्रथम सन्तके जीवन-कालमें जो स्थान पवित्र था, वह अुसके जानेके बाद अनेक प्रकारके मोह, स्वार्थ और प्रपञ्च आडम्बरका अष्ट स्थान बन जाता है । अंभी

गद्गुण — प्रेम, दया, क्षमा, शांति आदि — प्राप्त करने चाहिये । जब तक अंग दिशामें हमारा प्रयत्न न हो तब तक सारी बातें व्यर्थ हैं — भले हम हिमालय पर जाकर तपस्या करें या रामेश्वरकी तीर्थयात्रा करें ।

हम जिसे तीर्थ कहते हैं, वह मूलतः किसी साधु-सत्तके रहनेका स्थान होता है । अनेक जीवन-कालमें अनेक पील, चारित्र्य, सत्कर्मोंके आचरण, धर्मप्रवृत्ति आदिके कारण वहाँके वातावरणमें पवित्रता और शांति रहती है । अतः वह स्थान लोगोंको स्वाभाविक ही पवित्र मालूम होता है । परन्तु जैसे साधु-सत्तोंके अवसानके बाद अनेक स्थानोंका महत्त्व बढ़ा दिया जाता है, जिसकी वजहसे वे मायाके स्थान बन जाते हैं । ”

मैंने कहा : “ प्रत्येक संत या सम्प्रदायका स्थान सत्तके चले जानेके पश्चात् ऐसा ही बन जाता है । आश्चर्य तो यह है कि वह ऐसा क्यों बन जाता है । ”

नाथजी “ जब तक हम मनुष्य-स्वभावको पहचान नहीं सकते, तब तक हमें आश्चर्य होता है । देखो, पहले तो कोई साधु या सत्त उस स्थानमें रहता है; और वह लोगोंको नीति और सदाचारके मार्ग पर ले जानेका प्रयत्न करता है । उसकी मृत्युके बाद उसके अनुयायी या भक्त अपने गुरुकी महिमा बढ़ानेके लिये उस स्थान पर मंदिर, मूर्ति आदिकी स्थापना करते हैं । श्रद्धा बाहरी आडम्बरसे जनसमुदाय उसकी ओर आकर्षित होता है । बादमें परम्परासे उसे सम्प्रदाय अथवा पन्थका रूप प्राप्त

होने लगता है । जिसमें से जिन्हें भौतिक सुख, मान, प्रतिष्ठा, धन आदि प्राप्त होता है या प्राप्त करनेकी अिच्छा होती है, वे लोग जिस अुद्देश्यसे अुस स्थानका महत्त्व बढ़ाकर अुसे तीर्थका रूप देते हैं कि श्रद्धालु जनसमुदाय अधिकाधिक सग्यामें बहा आता रहे । सन्तके जीवन-कालमें केवल वंराग्यनिष्ठ और ज्ञानकी अिच्छा रखनेवाले लोग ही बहा आते हैं । परन्तु बादमें अुस स्थानमें बाह्य आडम्बर बढ़ानेके कारण और अनुयायियों द्वारा अुस सन्तके अद्भुत सामर्थ्यके विषयमें झूठी बातें प्रचलित हो जानेके कारण वहाके अुत्सवोंमें राग-रग, मौज-मजा, प्रसाद, भोजन और अन्नकूटका बोलबाला रहता है । अिमके फलस्वरूप बहा आनेवालोंकी सख्या स्वभावतः बढ़ने लगती है । अुनमें मनीषी माननेवाले, अपना माल बेचनेवाले व्यापारी, चोरी करनेका मौका ढूढनेवाले चोर, नाटक-खेल-तमाशा बंगरासे लोगोंका रजन करके पैसा कमानेवाले, माधुर्यका ढोंग करके भोलेभाले लोगोंको अपने जालमें फसानेवाले — अिम प्रकार अनेक हेतुओंसे आनेवाले अनेक प्रकारके लोग होते हैं । वे सब तीर्थोंकी महिमा बढ़ानेका प्रयत्न करते हैं । तीर्थोंकी अिम झूठी महिमाके कारण भोले और अन्ध श्रद्धावाले लोग फंस जाते हैं । तीर्थ-सम्बन्धी श्रद्धा समाजमें परम्पराने चलती आती है । परन्तु वास्तवमें प्रथम सन्तके जीवन-कालमें जो स्थान पवित्र था, वह अुसके चले जानेके बाद अनेक प्रकारके भोद, स्वार्थ और प्रपंचके बाह्य आडम्बरका श्रष्ट स्थान बन जाता है । अंती

स्थितिमें सद्विचार, सदाचार और भक्ति वहां कैसे टिक सकती है ? अर्थात्, उस स्थानमें सुविचार और शुद्ध भावनाओंका नाश हो चुका होता है और वह सामान्य स्थानोंसे अधिक भ्रष्ट हो गया होता है । जिस प्रकार उसके पापकी परम्परा बढ़ी हुई होती है और तीर्थ हमारे घरसे भी अधिक अशान्त और अपवित्र घना हुआ होता है ।”

अुसी शामको नायजी बसभी गये । मैं स्टेशन तक अुन्हें पहुंचाने गया था । रास्तेमें मैंने अुनसे पूछा : “आप फिर कब आयेंगे ?”

अुन्होंने उत्तर दिया “वहांका कार्य पूरा करके आभूंगा तो जरूर । लेकिन सोचता हू कि यहां आकर करूंगा क्या ? मुझे कामके बिना कहीं रहना अच्छा नहीं लगता । यह मेरे स्वभावके विरुद्ध है ।”

मैंने कहा : “आपके परिचयसे मैं जान गया हू कि आपका स्वभाव निकम्मा रहनेका नहीं है । परन्तु आपके सहवासकी मुझे बड़ी जिच्छा रहती है ।”

वे बोले : “प्रेम अंसी ही वस्तु है । मनुष्य पर प्रेम रखें तो भी अुसका वियोग सहना पड़ता है, और अुसके कारण दुःख होता है । इसलिये केवल धर्म पर ही हमेशा निष्ठा और प्रेम रखना चाहिये । और धर्म तो हमारे साथ ही रहता है ।”

मैं बोला - “सच है । भगवान् बुद्धने भी अंसा ही कहा है । समय समय पर मुझे अनुभव होता है कि आप भगवान् बुद्धके ही भाव व्यक्त करते हैं और इससे अुन

महापुरुषके वचनो पर मेरी थढ़ा बढ़ती जानी है । मुझे तो लगता है कि अत्यन्त मूढम विचारको छोड़ परमात्माके विषयमे निष्ठावान पुण्योकी वाणीमें समानता रहती है । '

नाथजी " ठीक है । परन्तु जब तुम अितना गमनमें हो तो अधीर क्यों रहने हो ? मैं क्या अिगमें कुछ अधिक कहनेवाला हूँ ? फिर भी मैं तुमसे दूर नहीं हूँ । यदि तुम गन्धमंका साप्रिध्य बनाये रगोंग तो मैं मरता तुम्हारे पास ही हूँ । गन्धमं पर निष्ठा रखोग या निश्चिन्त बनोगे । "

१४

निष्ठा और धैर्य

ही रहेंगे । हम जो भी सत्संकल्प करेंगे, बार-बार चिन्तन करके जिन संकल्पोंको दृढ़ करेंगे, वे अवश्य सफल होंगे । जिसके लिये सन्मार्ग पर हमारी अटल निष्ठा होनी चाहिये । ध्येयके बारेमें हमारा निश्चय दृढ़ होना चाहिये । अंसा करके केवल घबराने और व्याकुल होनसे अथवा निराश होकर बीचमें ही अपना मार्ग छोड़ देनेसे क्या लाभ होगा ? धैर्य रखकर और आत्मनिष्ठ होकर हमें सत्यके मार्ग पर हमेशा चलते ही रहना चाहिये, सारे संकटों और कठिनायियोंको पार करके—अपने सब दोषोंको दूर करके हम अपना ध्येय सिद्ध करेंगे, अंसी श्रद्धा और अंसा विश्वास हमारे हृदयमें होना चाहिये । और यदि हमारी श्रद्धा, हमारी निष्ठा शुद्ध होगी तो जिसमें शका नहीं कि हम अपनी शुभेच्छाओंको व्यापक रूपमें सफल हुआ देखेंगे । निराश होनेका क्या कारण है ? हमारा संकल्प सिद्ध हो तब तक हमें धैर्य रखना चाहिये । अपने विचारों, संकल्पों और निष्ठाको दिन-प्रतिदिन शुद्ध करते रहना चाहिये । हमारे संकल्पकी सिद्धि बाहर कहींसे होनेवाली नहीं है, परन्तु हमारे हृदयमें ही होगी । जिन सब बातोंको समझकर सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये । कभी घबराना नहीं चाहिये । जिसलिज्जे बिना कारण व्याकुल बनकर तुम अपने प्रयत्नमें शिथिल न बनो । ”

नाथजीकी बात सुनकर मेरा हृदय धीरे-धीरे शान्त हो गया और मेरे मनमें अुत्साहका संचार होने लगा । अनुकी आज्ञा लेकर मैं अनुके पाससे अुठा ।

चित्तकी समता

एक रातको कोओ वात निकलने पर पूज्य नाथजीने कहा : “ मनुष्यको समय देखकर चलना चाहिये । इसके लिये हममें विवेक, समय-भूचकता, तारतम्य, प्रमगावधान, समय, सहनशीलता आदि सद्गुण होने चाहिये । अिन सब गुणोंके होते हुअे भी यह ममज्ञ रखना चाहिये कि हम कितने ही सावधान रहकर और नियमित रूपसे क्यो न काम करें और प्रेम, अुशरता आदि सद्बुत्तिया हमसे कितनी ही मात्रामें क्यो न हों, जीवनमें दुखके प्रसंग आनेकी सम्भावना रहेगी ही । क्योकि कितनी बार सुख-दुख केवल परिस्थितियों और समयोंके परिणाम होने हैं । कभी-कभी हमारे अपने व्यवहारके साथ अुनका कोओ सम्बन्ध ही नहीं होता । हमारा व्यवहार अुनके लिये जिम्मेदार नहीं होता, फिर भी अुनका परिणाम तो हमें भोगना ही पड़ता है । अंसे समय हमें विवेक और तारतम्य-बुद्धिसे काम लेना चाहिये और सहनशील बनकर दुखकी तीव्रता कम करके चित्तकी समता कायम रखनी चाहिये । अुमो तरह कभी-कभी हमारा कोओ प्रयत्न और हमारी योग्यता न होने पर भी जीवनमें सुखके अवसर आ जाते हैं । अुम समय हमें सावधानीसे विचारपूर्वक आचरण करना चाहिये । दुखके अवसरों पर अुद्विग्न न होकर तथा सुखके अवसरों पर

हर्षमग्न न होकर हमें विवेकसे अपने चित्तकी समता कायम रखनी चाहिये ।

"जीवन सदा अेकमा नही रह सकता । परिस्थिति, सयोग, कार्यकी विविधता, कर्तव्यके कम-ज्यादा विकट प्रसंग, हमारा और दूसरोंका बुढापा, व्याधि, मृत्यु जैसी अवस्थायें; घरकी और बाहरकी कठिनाभियां; कभी जन्म-लग्न जैसे हमारे परिवारके आनन्द-भुत्सवके प्रसंग; कभी कठिन प्रवास तो कभी आराम, कभी मान-अपमानके सावज्जनिक अवसर; कभी सज्जनके साथ तो कभी दुर्जनके साथ मिलाप; कभी अपने मनकी तो कभी दूसरेके मनकी कमजोरी, कभी वस्तुओंकी विपुलता तो कभी अभाव; साथ ही अनावृष्टि, अतिवृष्टि, बाढ, महामारी, अकाल, भूकम्प, दगा-फसाद जैसे अकल्पित सकट, — माराश यह कि कभी अिम तो कभी अुस सुख या दुःखका योग मानव-जीवनमें बना ही रहनेवाला है । अिन सयमें चित्तकी समता बनाये रखनेकी कला हस्तगत हो जाय तो समझना चाहिये कि जीवनमें हमने सब कुछ गिढ कर लिया ।"

चित्तकी समता साधनेका अुपाय

परिस्थितियोंके — गयोंगोंके परिणाम बिना पर नीचे-
 रूपमें पढ़ने लगते हैं तब हमारा चित्त अन्तमें मान हो
 जाता है । और जब हम मान हो जाते हैं तो अपना
 भान भूल जाते हैं । सुखका नया चटनन हम भान रखा
 देते हैं और दुखकी पीड़ाका अड्डन हावर हम अपना
 भान रखा देते हैं । सुख-दुखमें मान होना हमारा बिल्कुल
 सहज धर्म है । हम अिन सहज धर्मन अपर अट्टना है ।
 जब तब सुख-दुखकी तरंगाव अपन चित्त पर हावरने
 तीव्र प्रभावकी वम करना हम नहीं जाना, तब तब वह
 धर्म गिड़ नहीं हो सकती । अगरे लिअ नदने दहने हमें
 बोधी न बोधी अुदात्त ध्येय अपन सम्मन समान हाना । हम
 ध्येय अंता होना चाहिये अिनकी साधना अं दमने अंकी
 अदरदाओ और दोषोमे की आ रहे । सुख-दुख अं दमने अंकी
 साधन बनने योग्य दमने अदरदा अं दमने अंकी

दृष्टि रखे और तदनुरूप प्रयत्न करता रहे, तो न तो उसे सुखका नशा चढ़ेगा और न दुःखकी तीव्रता अनुभव होगी। उस अवसर पर उसके चित्तमें चलनेवाला स्वकर्तव्यका विचार उसे सावधान और जाग्रत रखेगा। उसे बेभान नही होने देगा। कर्तव्यपालनके लिये आवश्यक सद्गुणोंके विचार और आचरणसे उसके चित्तमें सुख-दुःखके विषयमें स्वाभाविक ही समता बनी रहेगी। अंसा मनुष्य जीवनके प्रत्येक अच्छे-बुरे प्रसंग पर विवेक, तारतम्य आदि सद्गुणोंकी सहायतासे मानवता सिद्ध करेगा और सन्तोष अनुभव करेगा।

‘दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह’ यह स्थिति केवल सुख-दुःखके अवसरोंको टालते रहनेसे अथवा अनुराग मग्न रहनेसे कभी सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि जीवन अनेक प्रकारके संयोगों और प्रसंगोंसे भरा होता है। उसमें सुख-दुःखके प्रसंग अनिवार्य रूपसे आते ही हैं। अनुराग चित्तकी समानता कायम रखनेकी कला हमें हस्तगत करनी चाहिये। अतः अलक्ष्य और पवित्र ध्येयके सिवा मनुष्यके अन्तर्गत अन्य कोई अन्तर्गत नहीं है।

क्षमा और शान्ति

अब बार बिगो कारणसे मे बहुत धुप्य हो गया था। तब मुझे समझाने हुआ नाथजीन बहा

“मतभेद या बिगो सामान्य घटनाके घटने पर असात बनकर अपन चिन्तना अद्विग्न करना और समझ-बालेके चिन्तको भी खचन करना दिव्यवृत्त नाथजीन है। और भुगके पीछे तत्त्वकी खान बना हाता है। केवल यही न कि दूसरे लोग हमारा जाग्रह स्वीकार कर? अपने हठ या जाग्रही दृष्टिमें हमी सारा दिव्यवृत्त करने हैं। मेरा तो यह कहना है कि आवश्यकता ही ना हम अत्यन्त विषयमें अत्यन्त जाग्रही और निरन्तर भेदे बन, बिन्नु सामनेवालेका भारी दोष होन पर भी अपने विद्वाने हमें यथासमय शान्ति और क्षमावृत्ति समझी चाहिये। मेरे मन हम सदा अगले अलगा आचरण करने हैं। दूसरोंके दोषोंके दोषको हम बहुत दया समझने हैं और मुझे बहुत बड़े दोषको भी ऐसा समझकर करने हैं। दूसरोंके बुराई हमें समझ हो तो भी मुझे अन्त अन्त समझने नहीं चाहते

लानी ही चाहिये, और न वंसा आग्रह ही रखो। जब सचमुच किमीका कोओ नुकसान न होता हो — नुकसान होनेकी संभावना न हो, तब दूसरेकी बात शान्तिसे सुन लेनी चाहिये। अंसे समय क्षमाकी या अपेक्षाकी वृत्ति रखनी चाहिये। किस समय कंसा व्यवहार किया जाय, यह यदि असी समय समझमें न आये और तदनुरूप व्यवहार करना न आये, तो अच्छे ग्रन्थ पढ़ने और अच्छी बातें सुननेका लाभ क्या? अब इस क्षोभके समय दूसरा कोओ विचार न करके सब कुछ भूल जाओ और शान्ति धारण करो।”

१८

सादगी और धर्माधर्मका विचार

बम्बयी, ५-७-१९२५

अक रातको सोनेकी तैयारी करते समय मुझे याद आया कि पूज्य नाथजी आज बहुत थके हुअे होंगे। इसलिये मैंने उनसे कहा : “आप बैठ जाअिये, मैं आपके सिरमें तेलकी मालिश कर दू।” असा कहकर मैं बादामके तेलकी बोतल ले आया। नाथजीने पूछा : “यह क्या? यह तो कोओ दूसरा ही तेल भालूम होता है।” मैं बोला : “बादामका तेल है।”

नाथजीने आश्चर्यसे कहा : “बादामका तेल? मेरे जैसेके लिये ठुमका क्या अुपयोग है?”

मैंने उत्तर दिया “खोपरेके बजाय बादामका तेल दिमागको अधिक शांति और ठडक देता है । इसलिअे मैं खास तौर पर उसे लाया हू । इसमें आपत्तिजनक क्या है ?”

नाथजी “ठडक और शांति ही चाहिये तो अरडीके तेलका उपयोग क्यों न किया जाय ? उसकी दुर्गन्ध आती है अितना ही न ? परन्तु जिसे ठडक ही चाहिये, उससे अधिक सुखकी अच्छा नहीं है, वह अरडीके तेलकी दुर्गन्धसे क्यों घबराये ? बादामकी कीमत और उसके तेलकी कीमतका विचार किया जाय तो मैं नहीं मानता कि मेरे जैसा मनुष्य अमका उपयोग कर सकता है । रात पूछो तो किसी भी तरहका तेल लगानेकी मुझ आदत ही नहीं है । बचपनमें दीवालीके दो दिनोंमें तेलका थोडा स्पर्श शरीरको होता था । वह भी लाचारोमें, क्योंकि वह परम्परासे चला आया रिवाज था । बचपनमें अमसे बचा नहीं जा सकता था । जब मैं गृह व्यायाम करता था तब भी मैंने कभी शरीरको तेल नहीं लगाया । न मालिश की । क्योंकि ये सब बातें मुझे सुख-भोगकी मालूम होती थी । गरीबोंको जब खानेके लिअे भी तेल नहीं मिलता, तब हम शरीरको अच्छा रखनेके लिअे, शरीरको चिकना-चुपड़ा बनानेके लिअे या अन्य अैसे कारणोंसे शरीर पर तेलकी मालिश कैसे कर सकते हैं ? जीवनकी अैसी विचारसरणी और सादगीकी रुचि होनेसे यह बात मनमें ही कभी नहीं आती । यही है कि शरीर या माथे पर कभी तेल लगानेका

समस्त औरतों में मही जाता। अंगुमें शुभ बातोंका तेज से भाव। अब और हम गादगीको क्या करें और दूसरी और मौतकी भीत कायम से, दूर वंगे हो सरगा है?"

मैंने कहा "भातरा करना ठीक है। परन्तु यह विचार धृत करना चाहिए। भात क्या करना है? आर क्या दिगी साधनामें दिगता अनुदान करके है? सत्त्व मित्र तथा मित्रिभिः मित्रता अनुयोग कर लेंगे। आजता भातने बहुत कष्ट भोग है। भंगी यन्त्रुकी आपने कभी अिष्टा भी नहीं की। यह विचार आप कभी मनमें भी न लायेंगे। सीत्रिये, मैं मानिष्ठ कर दू।"

गादगी "भंगी बात क्यों कहते हो? आज तात गादगी और मयमका जीवन बिगानेके बाद अब अति क्यों छोटा जाय? गादगी और संयमता जय जीवन्ता धर्म मान लिया है, तो अंग धर्मका वाचन जीवनभर करना चाहिये। जो जीवनका धर्म निश्चित हो चुका है, वह अमुक स्थिति तक ही धर्म है और अमुके बाद धर्म नहीं है—यह कैसे कहा जा सकता है? मनुष्य अमुक समय तक कष्ट उठाये, व्रत और सदाचारका पालन करे, संयम रखे तथा अन्य लोगोंकी तुलनामें थोड़ा विचारो धने और बादमें अिन सबका फल भोगे अर्थान् सादगीका जीवन छोड़ दे और देहमुक्त भोगकर पुण्य नष्ट करता रहे! अिसे क्या धर्म कहा जायगा? केवल देहसुखके रूपमें सदानारका फल भोगनेकी अिच्छा जिसके मनमें हो, अुमकी निष्ठा सदाचार पर है अैसा कहा जा सकता है? विचारो मनुष्य

अमे व्यक्तिको सदाचारी नहीं मानता । जो मनुष्य सादगी और सदाचारको ही जीवनव्यापी धर्मका लक्षण मानता है, वह सदाचार और समयमें कभी विचलित नहीं होगा । वह विचार और आचरणके विषयमें सदा जाग्रत और दृढ़ रहेगा । जब मैं यह जानता हूँ कि मनुष्यकी लालसासे — वैभव विलासकी वस्तुओंका अपभोग करनेकी अभिच्छामें ही समाजमें अतनी अज्ञानता और गरीबी फैली है, तब वैभवकी अनेक वस्तुओंके किसी कारण अनायास मिल जाने पर मैं उनका उपयोग कैसे कर सकता हूँ ? यदि मैं विचारी हूँ और किसी प्रयत्नमें धीरे-धीरे मेरी मददगारियाँ विवक्षित हूँ, तो सदाचार और सादगी मेरा स्वभाव ही बन जाना चाहिये । इस तरह शरीर-मुक्त भोगनेका सम्कार ही मेरे मनमें न रहना चाहिये । अब तुम समझ गये न ?

“असके अलावा, स्वभावके विरुद्ध मनुष्यमें थोड़ा भी सत्कार न हो तो वह अंग सम्कारके अनुसार सभी आचरण कर ही नहीं सकता । यदि वह अंग करे तो समझना चाहिये कि वह अभी अनुकूल मरोग मिटने पर अपनी गुप्त और क्षुद्र वागनाओका पोषण कर रहा है ।”

नायकीकी क्षमताके बाद कुछ कहनेकी नहीं रह गयी । क्षमताके मैं अरहीका तैयार आकर अपने लिए घर माने लगा । वह भी अन्तर्गत नहीं हुआ । वे बोले : “लेख मैं स्वयं ही सब कुछ ही देख होगा । अब कोई बहानाभी नहीं है तो मैं स्वयं ही सब बातें सबों न करूँ ? शरीर विरुद्ध अस्वस्थ हो और हम कुछ कर न सके,

नानक आदि सन्तोंका धर्म आरंभसे अन्त तक सदाचार-युक्त ही था । वह कभी बदला नहीं । अनुका जीवन अन्त तक अत्यन्त शुद्ध और पवित्र बना रहा । अनुके विचारों और आचरणमें सदा मेल होता था । यह मेल अनुका स्वभाव बन गया था । अनुके जीवनकी हर बात धर्ममय थी । अंसा स्वभाव बन जानेके बाद — जीवन ही पूर्णतः धर्ममय बन जानेके बाद — जीवन और धर्म अलग अलग नहीं रह जाते । जीवन ही धर्म और धर्म ही जीवन बन जाता है । अंसी स्थिति हो जानेके बाद भुसमें अन्हें विरोधता न मालूम हो तो कोभी आश्चर्यकी बात नहीं है । अंसा जीवन बनाना कष्टसाध्य है । परन्तु जो मनुष्य भुसके लिभे निरन्तर प्रयत्न करता है, भुसका जीवन अंसा बन जाता है । और, बन जानेके बाद वह स्वाभाविक हो जाता है । अतः हमें सदा प्रयत्नशील और विवेकी रहकर अपने विचारों और आचरणमें अंसा स्थानी चाहिये और सदा सदाचारका आग्रह रखना चाहिये । सत्समी और पुरुषार्थी बननेका यही अंक मार्ग है ।”

मैंने पूछा “मयम और भोग ये दोनों यदि बिगरी अवस्थामें हों तो कोभी स्वच्छन्दी मनुष्य पूछ सकता है, ‘धर्म ही आचरण क्यों किया जाय ? क्या अधर्म भी यितही सह्य और निश्चयन स्थिति नहीं है ?’ मुझे स्पष्ट तो अंसा नहीं लगता । आर्यो काल में मयम मय ८, अमिनिभे मेरे मनमें यह प्रश्न नहीं आता । किन्तु कोभी स्वच्छन्दी मनुष्य कभी —”

हमें निरुत्तर कर देता है । अमु समय मनका समाधान किस तरह किया जाय, यह हमारी समझमें नहीं आता । अतः इसी धौके पर अिगका विचार कर लिया जाय तो ठीक होगा । ”

नायजी “अंमे मनुष्यमें यही कहा जा सकता है कि आपको जैसा ठीक लगें वैसा आप मानें, परन्तु जिस अटल नियममें सृष्टि चलती है, उसका क्रम ही इस प्रकारका है कि हम सब विकासकी दिशामें आगे बढ़ें । आप असत्य आचरणका, स्वच्छन्द व्यवहारका निश्चय कर ले तो भी आप लम्बे समय तक ऐसा आचरण नहीं कर सकेंगे । और यदि दूसरे भी आपके साथ वैसा ही व्यवहार करें तो आपको अपना जीवन चलाना असंभव हो जायगा । मनुष्य कभी कभी स्वार्थवश होकर असत्यका आचरण करता है अथवा स्वच्छन्दी बन जाता है, जिसका कारण कभी उसका अधर्म, कभी लालच, कभी लोभ, कभी मत्सर और कभी अहंकार होता है । ऐसे प्रसंगोंको छोड़ दें तो मदा असत्यका ही आचरण करना मनुष्यका स्वभाव नहीं है । और ऐसा वह कभी बन भी नहीं सकेगा । वृत्तियोंको अधर्मसे धर्मकी दिशामें ले जानेकी कला मालूम न होनेके कारण कभी कभी वह अविवेकमें या अनजानमें गलत तत्त्वज्ञान निर्माण करनेका प्रयत्न करे तो भी उस पर वह टिका नहीं रह सकता । सभी लोग उसके साथ स्वच्छन्द व्यवहार करने लगे तो उसे कैसा लगेगा ? क्या वह कहेगा कि सबको स्वच्छन्द व्यवहार करना चाहिये ?

कोओ मनुष्य यदि मुझे आम कहे कि अपने लाभके लिये कपट और विश्वागधान करनेमें कोओ हजं नही, तो अमु पर कौन विश्वास करेगा ? और यदि अमु पर कोओ विश्वास ही न रहे तो वह कपट किनके माघ करेगा ? किसके नाय विश्वागधान करेगा ? अंगी स्थितिमें हम अमीसे पूछें कि हम गयागे यदि व्यवस्थित और सरल जीवन विताना हो तो अमुके लिये आप गया पमन्द करेंगे ? वह क्या उत्तर देगा — धर्म-नियम या स्वच्छन्दता ?

अगम्य, अधर्म और स्वच्छन्दताका आचरण अक व्यपित भी दीर्घ काल तक नही कर सकता; क्योंकि हमारा जीवन सामुदायिक है। विश्वागके बिना समुदाय चल नही सकता। सत्य और प्रामाणिकताके बिना विश्वागका निर्माण नही हो सकता, न वह टिक सकता है। अधर्मसे हमारे सारे व्यवहार बन्द हो जायगे और जीवन चलना ही असम्भव हो जायगा। अम विषयमें अतना लम्बा और सूक्ष्म विचार करना भी आवश्यक नही है। क्योंकि तुम कहते हो वैसा कोओ स्वच्छन्दी मनुष्य अिस जगत्में नही मिलेगा। किसी 'वाद'के जोशमें कोओ अपनी अधर्मवृत्तिके दोषको सौम्य बतानेके लिये भले अतने समयके लिये वैसा कहे, परन्तु अंसे क्षणिक प्रसंगको छोड़ कर अुसके व्यवहारका निरीक्षण किया जाय तो वह हमारे जेमा ही धर्म और सदाचारको महत्त्व देनेवाला जान पड़ेगा। वह अपने बालकको स्वच्छन्दी नही बनने देगा। स्वच्छन्दी नौकरको अपने घरमें नही रखेगा; अुसके भाजी,

मित्र, मने-सम्बन्धी कोई भी स्वच्छन्दी अथवा अधर्मो हो तो वह अन्हें बरदास्त नहीं करेगा । वंसा सम्बन्ध वह किसीके भी साथ रखता नहीं होगा, और अंसे किसी ध्यवित पर विश्वास भी नहीं करना होगा । अमुके साथ तो सब लोग सत्य, प्रामाणिकता, अदारता और प्रेमता व्यवहार करे यही वह चाहता होगा । अतना ही गरी, अंगा अमबा आरह भी होगा । अमबा कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्यके मनमें मानवधर्मकी स्थापना मझाके लिज हो चुकी है । अब हम सब मानवताम सुखी होनेकी अिच्छा करते हैं । बेवज्र अिन्द्रियजन्य सुखम सुखी होनेकी सिधति हमारी आज नहीं है । हम मानवीय मन प्राप्ति हुआ है । अिर्गतअ हम बौद्धिक और मानसिक आजन्दी अिच्छा करते हैं । बुद्धिम अतर और मनका मनीय प्रदान करे अंगे सुखको हम पसन्द करते हैं । अम सुखीकी अंशा अंगे सुखको हम अष्ट मानते हैं । हमारी अधर्म-पूर्ण बिरादुर अन्धविन गरी है, अंगा सिद्ध करनेका प्रयत्न भी कोई स्वच्छन्दी मनुष्य करने बौद्धिक समाधानके लिजे ही करता है । हमारे लोग हमसे प्रेम करें, सब दर बिरादुर करें, हमे मान-सम्मान दे, हमे अल्ल करें और अिन प्रकार समुदायमें हम सुख प्राप्त कर — यह अिच्छा है । हमकी है कि मनुष्य मानवतामें प्राप्त होनेवाले सुखका अंग है । अम सुखको यह महत्त्व देता है । बल अन्तर और सब सुख प्राप्त करनेका अंगका प्रदान करी है । बल, बल, मोक्ष, सब, सब अंसेके अंसेके अंसेके अंसेके अंसेके अंसेके

स्वयंभूत ज्ञानवादी हीनवादी धर्मवादी दूरीकरणे मनकी शक्ति
 और गुणकी प्रकृति नहीं बताना, भेदा मान्य हो तो भी
 समझना चाहिये कि यह गुणकी जीवनकी आवश्यक घटना
 प्रकृति शून्य मनोविकाशका आपन है। वृत्तियोंका मनुष्य
 को पेटना भेदा प्राप्ति कभी मर्दानगी बाहर जाकर
 स्वच्छदी स्वच्छदी करने तो भी यह अंगका स्वभाव नहीं
 है। अंगका अंग अपनी वास्तविक वृत्तियों ज्ञान करनेका
 गुण मिलता तो या भी अंगका वह कभी वृत्तिका अनुभव
 नहीं कर सकता। क्योंकि अंगका हृदयमें जिग धर्मकी
 स्थापना तो नहीं है अंगका अंग मनु मान न रहे तो
 भी यह धर्म स्वयं अंग में यात मिलता है। विषयार्थान्ति,
 अज्ञान और मानविक रोगप्रकृति के कारण यह किन्ही भी
 पर मनका मनुष्य कायम न रहा मके तो भी अंगने
 यह मनुके लिये स्वच्छदी या अंगकी नहीं बन सकता
 हमें अब अंग स्थितिमें से ही आगे बढ़ना चाहिये; पी
 लोटना मभव नहीं है। अंग मार्गमें हम समय समय पर
 गिरें तो भी अंग गिरनेका अर्थ पीछे लौटना नहीं है,
 अथवा गिरना धर्म या पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता।
 यह धर्म मनुष्यमें स्पष्ट रूपमें प्रकट हो चुका है, असा
 हमारे अपने, दूरियोंके और राज्ञोंके जीवन परम हमें
 मालूम हो जाता है। हमारे हृदयमें विकारके संस्कार
 कितने ही दृढ़ क्यों न हो गये हों, फिर भी हम सब
 विकासके नैसर्गिक क्रममें आगे बढ़ रहे हैं। हम जो चाहे
 कहें, परन्तु अंग क्रमसे हम छूट नहीं सकते। विकारोका

बल कितना ही प्रचण्ड क्यों न हो तो भी उसे मर्यादामें रखनेवाली विकासकी गति मन्द किन्तु स्थिर रूपमें जारी हो रहती है । ”

मैंने पूछा . “ नायजी, इसका कारण मनुष्य-जातिने निरन्तर चिन्तन और दृढ़ सकल्पसे जो सम्कार बना लिया है, वही है न ? ”

नायजी “ मनुष्य नैसर्गिक क्रम या भीक्षुरीय नियमसे जिस चिन्तन और जिस सकल्प पर आया है । इसी क्रममें जिस मार्गमें जो आगे बढ़े हैं, उन्हें हम महापुरुष — सन्त कहते हैं । वह अनुका स्वभाव ही बन गया था । अनुका वह स्वभाव ही क्या मानव-जातिका धर्म नहीं है ? विकासके साथ सघर्ष करके अन्तमें उन्हें दबाकर धर्मसाधन किये बिना हमारा काम नहीं चलेगा । यदि हम जिस सघर्ष — जिस लड़ाईका अन्त जल्दी लाना चाहते हों तो हमें विकारोंका पोषण नहीं करना चाहिये । चिन्तमें स्वच्छन्दताको धुमने नहीं देना चाहिये । अज्ञानमें विकारोंका पोषण करनेका अर्थ केवल अितना ही होगा कि जगड़ा कुछ समय तक अधिक चलेगा । परन्तु जिसमें धाँधी भी राधा नहीं कि अन्तमें विजय मानवताही ही होगी । कोई मनुष्य कितना ही दूर और अन्यायी क्यों न हो, उसे भी दयालु और न्यायी बहलानेमें गौरवका अनुभव होता है । जिस रहस्य परने यह समझना चाहिये कि भुगुके हृदयमें भी मानवताकी मन्द ज्योति अवश्य जलती है ।

हमारे हिन्दी प्रकाशन

अस्पृश्यता	०-३-०
अहिंसक समाजवादकी ओर	२-०-०
आरोग्यकी कुंजी	०-७-०
खुराककी कमी और खेती	२-८-०
गांधीजीकी सशिष्ट आत्मकथा	१-८-०
गोखले — मेरे राजनैतिक गुरु	१-०-०
गोसेबा	१-८-०
दिल्ली-डायरी	३-०-०
नयी तालीमकी ओर	१-०-०
बालपोषी	०-३-०
बापूके पत्र — १. आश्विनकी बहनोंको	१-४-०
बापूके पत्र मीराके नाम	४-०-०
बापूके पत्र — २ : सरदार बल्लभभाजीके नाम	३-८-०
दुनियादी शिक्षा	१-८-०
मापावार प्रान्त	०-४-०
रचनात्मक कार्यक्रम	०-६-०
रामनाम	०-१०-०
राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी	१-८-०
वर्ण-व्यवस्था	१-८-०
विद्यार्थियोसे	२-०-०
शिक्षाका माध्यम	०-४-०
शिक्षाकी समस्या	३-०-०
सच्ची शिक्षा	२-८-०
सत्याग्रह आश्रमका इतिहास	१-४-०
सर्वोदय	२-८-०
हमारे गांवोंका पुनर्निर्माण	१-८-०
हरिजनसेवकोंके लिखे	०-६-०
राष्ट्रभाषाका सवाल	०-६-०
भूदान-यज्ञ	१-४-०
विवेक और साधना	४-०-०
ब्रह्म धर्मग्रन्थ	०-१२-०

महादेवभाभीकी हाथरी — १	५-०-०
महादेवभाभीकी टायरी — २	५-०-०
महादेवभाभीकी हाथरी — ३	६-०-०
महादेवभाभीका पूर्वचरित	०-१४-०
मरानी बन्धने	१-०-०
मरदार बन्धनभाभी — १	६-०-०
मरदार बन्धनभाभीके भाषण	५-०-०
धुनकी दीवारें	०-१४-०
धूम धागे के पटोमी	३-८-०
जीवनका काव्य	२-०-०
बापूकी शाकिया	१-०-०
स्मरण-यात्रा	३-८-०
हिमाचलकी यात्रा	२-०-०
धीमा गिम्न	०-१४-०
गार्धी और साम्यवाद	१-८-०
जटभूदमे जर्जलि	१-८-०
जीवनशोधन	३-०-०
निर्भयता	०-३-०
भाभी भारतकी अंक तमबौर	१-०-०
मिश्राका विकास	१-४-०
मिश्रामे विवेक	१-८-०
ममार और धर्म	२-८-०
स्त्री-गुरुद-भर्षादा	१-१२-०
बापू — मैंने क्या देखा, क्या समझा?	३-०-०
मरावणकी क्यों?	०-१०-०
हमारी दा	२-०-०
बन्धनके चमत्कार	१-८-०
दा और बापूकी गीत-छायामें	२-८-०
बापू — मेरी माँ	०-१०-०
गांधीजी	०-१२-०

डाकलघु अलप

नवशोधन कार्यालय, अहमदाबाद-१४

